साकेत : एक अध्ययन

गुप्त जी के 'साकेत' पर समीक्षात्मक अध्ययन

प्रो० नगेन्द्र एम० ए०

प्रकाशक
महेन्द्र, सञ्चालक
साहित्य-रत्न-भण्डार
सिविल-लाइन्स, आगरा।

प्रथम संस्करण
१०००

वसन्त पंचमी सं० १९९६
फरवरी १९४०

मूल्य
डेढ़ रुपया

मुद्रक
साहित्य प्रेस,
सिविल-लाइन्स, आगरा।

निवेदन

गुप्तजी की कृतियों में साकेत मुझे बहुत अच्छा लगा। उसको मैंने अपने विद्यार्थी जीवन से अब तक न जाने कितनी बार पढ़ा—और प्रत्येक बार एक नवीनता का अनुभव किया, परन्तु फिर भी मेरे मन को तृप्ति नहीं हुई। अतः मैंने सोचा कि कदाचित् अपनी भावनाओं को दूसरों पर प्रकट करके मन की संकुलना कुछ हलकी हो जाए। समालोचना अपने मूल रूप में ऋणी पाठक का कृतज्ञता-प्रकाशन ही तो है। साकेत का अध्ययन करके मुझे उसके प्रति एक ममत्व होगया—साथ ही मैंने अपनी भावनाओं को साकेतकार का ऋणी पाया। प्रस्तुत अध्ययन के पीछे यही प्रेरणा है।

मेरा अध्ययन साकेत तक ही सीमित है; मैंने कवि के अन्य ग्रन्थों को प्रयत्न-पूर्वक बचाया है। हाँ, अपने अनुभवों और धारणाओं का साहित्य के नियमों के अनुकूल साधारणीकरण अवश्य किया है क्योंकि जो ऐसा नहीं करता उसे समालोचना न लिख कर कविता या कुछ और लिखना चाहिए, यह मेरा निश्चित मत है।

अंग्रेजी विभाग,
कमर्शल कालिज, देहली

—नगेन्द्र

प्रिय द्विजेन्द्र के
जीवन के सोलह वर्षों को

जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझ को जैसा,
लौटाता हूँ आज उसे वैसे का वैसा।

—साकेत

साकेत : एक अध्ययन

सृजन-प्रेरणा

कवि ने कोई काव्य क्यों लिखा ? उसको कहाँ से प्रेरणा मिली ? साधारणतया यह जानना सहज नहीं होता ! आलोचक के लिए वह "प्राग् ऐतिहासिक" काल की बात है। परन्तु साकेत के सृजन के पीछे एक निश्चित सुन्दर पृष्ठभूमि है। उसका परिज्ञान साकेत के अध्ययन में सहायक होगा, इसमें सन्देह नहीं। आज से अनेक वर्ष पूर्व प्राचीन-साहित्य का अध्ययन करते-करते एक दिन कवीन्द्र रवीन्द्र का हृदय काव्य के कुछ कोमल नारी-चरित्रों की निर्मम उपेक्षा देख कर सहसा विचलित हो उठा, और आदि कवि के मुख से 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वं···' की भाँति ही उनकी लेखनी से भी 'काव्य की उपेक्षिता' शीर्षक लेख निकल पड़ा ! "हम कह सकते हैं कि संस्कृत-साहित्य में काव्य-यज्ञ-शाला की प्रान्तभूमि में जो कितनी ही स्त्रियाँ अनादृत हो कर

खड़ी हैं, उनमें प्रधान स्थान उर्मिला का है।........'हाय, अव्यक्त-वेदना देवी ऊर्मिला, एक वार तुम्हारा उदय प्रातःकालीन तारा की भाँति महाकाव्य के सुमेरु-शिखर पर हुआ था। उसके वाद अरुण लोक में तुम्हारे दर्शन नहीं हुए। कहाँ तुम्हारा उदयाचल है और कहाँ अस्ताचल-यह प्रश्न करना भी सब लोग भूल गये।"

इसके कुछ दिन वाद स्व० आचार्य द्विवेदी को भी उस वेचारी पर दया आई और उन्होंने भी 'कवियों की उर्मिला विषयक उदासीनता' पर निवन्ध लिखा! युवक कवि मैथिलीशरण उन दिनों आचार्य के चरणों में ही वैठा हुआ अपनी स्वर-साधना कर रहा था। वह भारत-भारती, जयद्रथ-वध आदि का यशस्वी लेखक घोषित हो चुका था, परन्तु ये तो उसके लक्ष्य के मार्ग की मंज़िलें ही थीं। वह राम का भक्त राम-चरित पर दृष्टि गड़ाये हुए एक ऐसा काव्य लिखने को व्यग्र था जिसमें अपने कवि-जीवन की अखण्ड तपस्या के सार को समाहित कर सके। निदान उसकी आँखें चारों ओर घूमती हुई इन दो निवन्धों पर कुछ देर को अटक गईं, और इसमें भी क्या सन्देह है कि रवीन्द्र के शव्दों में उसे पर्याप्त प्रकाश मिला।

काव्य-रचना प्रारम्भ हो गई। दो ढाई सर्ग लिख भी लिए गये इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा छन्दों में। उनके एक पद्य की चर्चा तो द्विवेदीजी ने और लोगों से भी की थी। वह पद्य था—

"लज्जा भरे लोचन उर्मिला के, ऊंचे हुए पंकज से खिला के।
परन्तु नीचे फिर हो गये वे, थे काम के केतन-से नये वे॥"

इसी बीच 'बार्हस्पत्य' जी का एक पत्र आया कि उर्मिला-काव्य लिखो। तो इस प्रकार कवि की दृष्टि पहिले केवल उर्मिला पर ही केन्द्रित रही—और 'उर्मिला-उत्ताप' जैसे किसी नवीन काव्य का नाम हिन्दी-संसार में कुछ दिन सुनाई देकर फिर विलुप्त होगया। उसमें वाह्य-प्रेरणा का दबाव ज्यादा था, कवित्व में आत्म-चेतना अधिक थी, और मेरी धारणा है कि वह कवि की बहुत अपनी चीज़ न होती। कदाचित् इसी कारण उसके ब्रह्म ने इसे स्वीकार नहीं किया। कवि के मन में अनेक संकल्प-विकल्प उठते-गिरते रहे—अनेक प्रकार का विचार-विनिमय हुआ, और इस तरह साकेत-भवन का निर्माण धीरे-धीरे होने लगा। कवि की इच्छा थी कि साकेत मेरी अन्तिम रचना हो, अतः वह उसे पूरी तैयारी से लिखना चाहता था। समय-समय पर उसमें परिवर्तन-परिशोधन हुआ, कभी-कभी तोड़-फोड़ कर पुनर्निर्माण की भी नौबत आई। इसी समय एक बार कवि अचानक मरणासन्न होगया। उपचार के प्रतिकूल पड़ जाने से उसके हृदय की गति रुकने लगी—मृत्यु-निकट दिखाई दी। घर के लोगों का रोना सुन पड़ता था, पर बोल न पाता था। किसी प्रकार इतना कह सका—'सियाराम, साकेत'। आशय यह था कि—सियारामशरण, तुम साकेत पूरा कर देना। और कोई बात उसके मन में उस समय नहीं आई। परन्तु 'करते हैं हरि क्या अहित कभी'—हिन्दी का अञ्चल साकेत-रत्न से वंचित कैसे रहता? कवि स्वस्थ होगया…। अच्छे होने पर स्वर्गीय अजमेरीजी और श्री सियारामशरण ने

आग्रह किया कि अब साकेत को न टालो। यद्यपि वर्षों साकेत का काम रुका रहा, परन्तु फिर आरम्भ होने पर जब कुछ दिन चल लिया तब तो कवि उसमें ऐसा लग गया कि आठ-आठ घंटे बैठा रहा करता था—कभी-कभी आवेश में टहलने लगता था—अन्त में सूखे वमन आने लगते तब किसी प्रकार उठता! (साकेत के पूर्वार्ध में कथा की मंथरता और उत्तरार्ध के दुर्दम् प्रवाह का यही कारण है!)

साकेत पन्द्रह-सोलह वर्षों में पूरा हुआ। इस सुदीर्घ काल तक, इतने कष्टों के बीच, कवि अपनी साधना में अविचल रहा! इसीलिए तो साकेत गुप्तजी के कवि-जीवन की कहानी है और इसीलिए तो कवि का उस पर विशेष ममत्व है! उसकी कुछ अन्य कृतियाँ भी अनधिक गौरव की अधिकारिणी नहीं हैं—यशोधरा को तो अनेक विद्वान् (जिनमें कवि पन्त जैसे कला-मर्मज्ञ भी हैं) साकेत के भी मूर्धन्य पर स्थान देते हैं। परन्तु मैथिलीशरण व्यक्ति और कवि की जीवन-व्यापी तपस्या का फल अखण्ड-रूप में साकेत में ही मिलता है। साकेत कवि के व्यक्तित्व के समान ही उदार है—व्यापक है। इस कवि ने अपने जीवन-भर भारतीय (हिन्दू) जीवन को देखने और समझने का प्रयत्न किया है—और भारतीय जीवन का इतना भव्य चित्र आधुनिक अन्य किसी काव्य में नहीं मिल सकता!

साकेत की कथावस्तु

साकेत की कथावस्तु भारत की पुरानी कहानी है जिसमें वाल्मीकि और तुलसी ने पूर्ण रीति से आर्य-संस्कृति का प्रतिफलन कर, उसे हमारे नित्य प्रति के जीवनादर्श का प्रतीक बना दिया है ! यह कहानी हमारे जीवन की चिरन्तन समस्याओं के समाधान-स्वरुप न जाने कब से चली आती है, और प्रत्येक युग 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के अनुसार अपनी बुद्धि और विचार धारा के अनुरूप इसे समझता और गढ़ता रहा है ! बीसवीं शताब्दी का यह युग भी अपनी विशेषताएँ रखता है । इसमें आकर भी इस कहानी ने घात-प्रतिघात सहे जिनका

व्यक्तीकरण हमें प्रतिनिधि-कवि मैथिलीशरण गुप्त की अमर कृति साकेत में मिला ! मैथिलीशरणजी ने यद्यपि अपने पूर्ववर्ती कवियों से बहुत कुछ ग्रहण किया है–परन्तु फिर भी इस कथा में अनेक मौलिक उद्भावनाएं भी की हैं। सब से प्रधान बात तो यह है कि साकेत में आकर राम और सीता की कहानी प्रधानतः उर्मिला की कहानी बन जाती है और उसी रूप में उसका विकास और संघटन (राम-कथा की पृष्ठ भूमि पर) होता है !

स्थान-ऐक्य :— कवि ने कथावस्तु के संघटन में प्राचीन महाकाव्य की इतिवृत्तात्मक शैली का अनुसरण नहीं किया है ! रामचरित मानस अथवा रामायण की भाँति उनकी कथा सूर्यवंश की गाथा-परम्परा, अथवा राम-जन्म की पौराणिक पृष्ठ भूमि से प्रारम्भ होकर, राम जीवन की क्रमिक घटनाओं में गुज़रती हुई, माहात्म्य-वर्णन पर जाकर समाप्त नहीं होती। यहां तो कवि ने कुछ मर्मस्थल चुन लिए हैं और उन्हीं को अन्वित करती हुई कथा चलती है ! इसका प्रारम्भ होता है उर्मिला-लक्ष्मण के वाग्विनोद से, जो अभिषेक की तैयारियों की सूचना देता है। अभिषेक, कैकई-मंथरा-संवाद, विदा-प्रसंग, निषाद-मिलन, दशरथ-मरण, भरत-आगमन, चित्रकूट-मिलाप तक की कथाएं तो कवि ने स्वयं कही या दृश्य रूप में उपस्थित की हैं, परन्तु आगे वह उर्मिला देवी को छोड़ राम के साथ नहीं जा सका, और यदि चित्रकूट गया भी है तो समस्त साकेत के साथ 'सम्प्रति-साकेत-समाज वहीं है सारा–' अतः शूर्पणखा की कहानी, खर-

दूषण-वध आदि उपकथाएं उसने सूत्र रूप से शत्रुघ्न द्वारा (जिनको किसी व्यवसायी ने समाचार दिया था) कहलाई हैं। फिर इसके आगे की घटनाओं का वर्णन लक्ष्मण-शक्ति तक, हनूमान साकेत में ही करते हैं, और शेष युद्ध वशिष्ठजी अपनी योग दृष्टि द्वारा साकेत-वासियों को दिखलाते हैं! सूर्यवंश के राजाओं की कीर्ति-गाथा, दशरथ राम-जन्म, जनक का गृहस्थ, बाललीला, ताड़का-वध, प्रथम दर्शन, धनुषयज्ञ, आदि प्रारम्भिक प्रसंगों का आख्यान उर्मिला स्वयं करती है। इस प्रकार सम्पूर्ण कथा की रंग-भूमि साकेत ही रहती है। कवि वहीं उर्मिला की सेवा में आसीन रहता है—और समस्त घटनाओं का समाचार साकेत में ही हो जाता है! अतः स्थान-ऐक्य का साकेत की कथावस्तु में बड़ा सफल प्रयोग है और साथ ही साकेत नाम भी पूर्ण रूप से सार्थक होता है!

घटना-ऐक्य :— स्थान ऐक्य से अधिक महत्वपूर्ण है घटना-ऐक्य का प्रश्न जिसके लिए यह आवश्यक है कि समस्त कथा-वस्तु का एक मुख्य कार्य हो और सभी गौण कथाएँ उसकी अनुवर्तिनी हों—अर्थात् घात-प्रतिघात द्वारा उस मुख्य कार्य के सम्पादन में सहायक हों। साकेत में हम यदि कार्य की ओर दृष्टिपात करें तो उसे सहज ही ढूँढ निकालना कठिन होगा। रामायण का मुख्य कार्य है रावण-वध, परन्तु वह साकेत में भी उसी स्थान का अधिकारी है, यह मानने में आपत्ति होगी क्योंकि साकेत का रंगस्थल है अयोध्या, और उर्मिला विरह ही उसकी

सबसे महत्वपूर्ण घटना (?) है। अतः उसका कार्य उर्मिला-लक्ष्मण मिलन है, और लक्ष्मण-शक्ति, मेघनाद-रावण-वध आदि घटनाएँ आनुषङ्गिक रूप में उसके सम्पादन में सहायक होती हैं। वास्तव में यह काव्य घटना-प्रधान नहीं है—इसमें चरित्र की प्रधानता है और उर्मिला का त्याग-अनुरागमय जीवन ही इसका प्राण है। अतः उसकी एकता की परीक्षा करने के लिए हमें पहले यह देखना चाहिए कि काव्यगत-पात्र और घटनाएँ नायिका के चरित्र-विकास में कहाँ तक सहायक होते हैं!

पहिले घटनाओं को लीजिए। प्रथम दृश्य उर्मिला-लक्ष्मण के सुखी दाम्पत्य जीवन का चित्र उपस्थित करता है। उनके मधुर वाग्विनोद से हमें उर्मिला के प्रेम, उसकी वाक्‌चातुरी एवं कलात्मक प्रकृति का परिचय मिलता है। उसके शब्दों में विदग्ध विनोद की मधुरता है। उर्मिला के चरित्र का यह रूप इस युग की एक विशेषता की ओर संकेत करता है। प्राचीन काव्य-नायिकाओं में हमें सर्वत्र एक गाँभीर्य्य मिलता है। सीता, शकुन्तला, महाश्वेता आदि देवियाँ सभी गंभीर प्रणय-प्रतिमाएं हैं। उनके दाम्पत्य जीवन में विनोद का स्थान न रहा हो, यह बात नहीं, परन्तु न जाने भारतीय शील के पुराने आदर्श के अनुसार अथवा किसी अन्य कारण से, उनका विनोद 'केयं अपरा' से आगे नहीं बढ़ा! इस युग में आकर शिक्षा और संस्कृति में बड़ा परिवर्तन होगया है। वाक्‌चातुर्य्य आधुनिक समाज-शिष्टाचार का एक स्पृहणीय गुण है। अतः हमें उर्मिला में

आधुनिक युग के प्रभाव की यह झलक मिलती है। उर्मिला की प्रतिभा में वाक्‌वैभव और कला दोनों का बड़ा सुन्दर समावेश है। पहले दृश्य की यही विशेषता है।

इसके उपरांत वियोग का हृदय-विदारक दृश्य आता है। दशरथ को मूर्छित कराकर, कौशल्या और सुमित्रा की वेदना का (चाहे वह आँसुओं में बही हो, अथवा क्षोभ में) चित्र अंकित करके, फिर सीता के निश्चय और उससे उत्पन्न सुख की ओर संकेत करने के उपरांत कवि उर्मिला की ओर आता है। इससे पूर्व की सभी परिस्थियाँ, उनकी गहनता और करुणा उर्मिला की परिस्थिति की पृष्ठभूमि ही हैं। दशरथ ने सत्य का आलम्बन लिया, कौशल्या ने मातृ-आदर्श को पकड़ा, सुमित्रा ने क्षत्राणी का आदर्श सम्मुख रखा—सीता ने सोचा 'स्वर्ग बनेगा अब वन में', लक्ष्मण ने भी,

'प्रभुवर बाधा पावेंगे
छोड़ मुझे भी जावेंगे'

के भय से 'रहो रहो हे प्रिये रहो' कह दिया—परन्तु उर्मिला क्या सोचती ? 'वह भी सब कुछ जान गई; विवश भाव से मान गई।' यह विवशता कितनी स्वाभाविक है। उसमें मानव का मांसल हृदय है, देवता का प्रस्तर हृदय नहीं। यहीं से उर्मिला की महत्ता भी प्रारम्भ होती है--शीघ्र ही वह मन से कहती है—

'हे मन, तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन'

और उसका स्वार्थ त्याग-भरा हो जाता है। इधर सुमन्त वल्कल

ले आते हैं। सीता पहिले हाथ वढ़ाती हैं और राम के समझाने पर वे अपने तर्क उपस्थित करने लगती हैं। कभी कहती हैं—

'अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ'

कभी कहती हैं—'मेरी यही महामति है, पति ही पत्नी की गति है।'—और अन्त में—'सतियों को पति-संग कहीं, वन क्या अनल अगम्य नहीं!' ये सभी वातें उर्मिला की स्थिति को गहनतर वना देती हैं! इन वाक्यों को सुन कर उसके हृदय में कैसा तूफ़ान उठता होगा—किन्तु वह एक शब्द भी मुँह से नहीं निकालती। दुःख-भार से वह वेचारी मुग्ध होकर 'कह कर हाय धड़ाम गिरी'। वास्तव में सीता ने ठीक ही कहा—

'आज भाग्य जो है मेरा
वह भी हुआ न हा तेरा'

उधर—'माताएँ भी मूर्ति वनीं, व्यग्र हुए प्रभु धर्मधनी' उन्होंने लक्ष्मण को वहुत समझाया—परन्तु अन्त में उन्हें भी यह ही कहना पड़ा—

'मैं वन में भी रहा गृही,
वनवासी हे, निर्मोही
हुए वस्तुतः तुम दो ही।'

यदि एक प्रकार से देखा जाए तो साकेत का मुख्य स्थल यही है। इसी के लिए उसका सृजन हुआ है! कवि ने युग-युग के इस उपेक्षित प्रसंग को वड़ी कुशलता से अंकित किया है।

उर्मिला के लिए राम और सीता दोनों की करुणा उमड़ उठती है—उसकी परिस्थिति की विषमता को सभी पहिचानते हैं—सभी को उस पर दया आती है! परिस्थिति की यही करुणा आगे चल कर नायिका के चरित्र को महान् बनाने में सहायक होगी। उसकी महत्ता का माप उसकी स्थिति की दयनीयता के अनुसार होना चाहिए।

आगे दशरथ-मरण और भरत-आगमन के करुण दृश्य हैं। साकेत की करुणा मानों समस्त व्यवधानों को तोड़ कर बह निकली हो! दशरथ पुत्र-वियोग में मर जाते हैं—नगर में हाहाकार मच जाता है—कवि इस स्थान पर कैकयी, कौशल्या, सुमित्रा, सुमन्त एवं वशिष्ठ सभी की मनोदशाओं का चित्रण करता है—परन्तु उर्मिला के विषय में प्रायः मौन है—बस एक बार हम सुनते हैं:—

‘माँ, कहाँ गये वे पूज्य पिता,
कर के पुकार यों शोक-सिता।
उर्मिला सभी सुध-बुध त्यागे,
जा गिरी कैकयी के आगे॥’

यहाँ कैकयी के आगे उर्मिला का गिरना कितना अर्थ रखता है! उसका यह मौन दशरथ-मरण के दृश्य से असम्बद्ध नहीं है-उसकी स्थिति की गहनता इससे और बढ़ जाती है—मानों वह इस समस्त हालाहल को चुपचाप पी गई हो! इसी प्रकार वह भरत-कैकयी के वार्तालाप और फिर चित्रकूट में राम-भरत एवं

रघुकुल की वंश-परम्परा, रामलक्ष्मण जन्म, उनकी बाल-लीला, ताड़कावध, पुष्पवाटिका-प्रसङ्ग, धनुष-यज्ञ, परशुराम-गर्व-दमन आदि का वर्णन करती है। यहाँ पर उर्मिला अपने विषय में काफ़ी कहती है—किस प्रकार उसका शैशव बीता, किस प्रकार राम के साथ लक्ष्मण को देखकर उसके मन और नेत्र भी उनके चरणों पर पुष्प के समान आप-से-आप अर्पित हो गए, किस प्रकार वह रात्रि उसने मीठे सपनों में बिताई, और किस प्रकार स्वयंवर में उसने लक्ष्मण के मधुर-दर्प को ललकती हुई आंखों से देखा। इन सभी बातों से उर्मिला के चरित्र की रूप-रेखा अंकित होती है!

एकादश सर्ग में माण्डवी और भरत उर्मिला की शोचनीय अवस्था की चर्चा कर ही रहे थे कि शत्रुघ्न आकर राम-लक्ष्मण के साहसिक कृत्यों का विवरण देते हैं। इसके उपरांत सीता-हरण से लक्ष्मण-शक्ति तक सभी घटनाओं का वर्णन हनूमान द्वारा होता है! यह वर्णन बड़े ही संक्षेप में किया गया है। वैसे इसकी सार्थकता केवल सम्बन्ध-निर्वाह के लिए ही है—परन्तु राम-लक्ष्मण के भाग्य से ही तो उर्मिला का भाग्य लिपटा हुआ है, और लक्ष्मण-शक्ति का वृतान्त तो उसके जीवन के लिए सबसे अधिक महत्व रखता है—इसलिए पाठक देखेंगे कि कवि ने उसी पर विशेष ध्यान दिया है! हनूमान के चले जाने के उपरांत अयोध्यावासी लंका पर चढ़ाई करने के लिए सज्जित होते हैं। यहाँ उर्मिला का वीर-पत्नीत्व प्रकट होता है। ज्योंही

शत्रुघ्न जाने को प्रस्तुत होते हैं त्यों ही उर्मिला आजाती है। उसका वह रूप साक्षात् भारत-माता का रूप है! उसके शब्दों में साकेत के युग-प्रतिनिधित्व का सार है, उसका संदेश देश की आत्मा की पुकार है। यहाँ कवि ने उसका महान् (Sublime) स्वरूप अंकित किया है!

इसके उपरांत वशिष्ठ की योग-दृष्टि द्वारा लङ्का का सभी दृश्य साकेत-वासियों के सम्मुख आजाता है! लक्ष्मण की दशा देखकर समस्त समाज जड़ीभूत हो गया, और उर्मिला? उसने तो

'देखा अपना हृदय मन्द निस्पंद न पाया।'

परन्तु फिर भी उसका विश्वास अटल था—

'जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ।'

आगे, घर बैठे ही वे लोग मेघनादवध, रावण-संहार आदि सब कुछ देख लेते हैं। बस राम-लक्ष्मण सीता-सहित घर वापिस आ जाते हैं। लौटने पर और सब कुछ तो होता ही है परन्तु सबसे खास बात यह होती है कि—

'गायी प्रभु ने वधू उर्मिला की गुण-गीता।'

और राम स्पष्ट कर देते हैं—

"तूने तो सहधर्म-चारिणी के भी ऊपर,
धर्म-स्थापन किया भाग्य-शालिनि इस भू पर!"

अन्त में महाकाव्य का कार्य है जो अपने जैसा आप है!

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने सभी घटनाओं को नायिका के व्यक्तित्व द्वारा बड़े ही भाव-पूर्ण ढंग से अन्वित

किया है ! उसमें प्रयत्न अवश्य है परन्तु कृत्रिमता नहीं है। सभी घटनाएँ उर्मिला के चरित्र पर घात प्रतिघात करती हैं—उसके वियोग की करुणा को और त्याग की महत्ता को स्पष्ट करती हैं। साकेत के पात्रों में कोई भी ऐसा नहीं है जो उसके चरित्र पर किसी न किसी अंश में प्रकाश न डालता हो। राम, सीता, दशरथ, कैकयी, कौशल्या, मांडवी, भरत, साकेतवासी और लक्ष्मण सभी के मुख उसकी गौरव-गरिमा अथवा करुण-कथा से आपूर्ण हैं—

दशरथ— 'उर्मिला कहाँ है हाय वधू
तू रघुकुल की असहाय वधू।'
केकयी— 'आ मेरी सब से अधिक दुःखिनी आ जा,
पिस मुझ से चंदन-लता मुझी पर छा जा!'
माण्डवी— 'किंतु वहन के वहने वाले आँसू भी सूखे हैं आज!'
साकेत के नागरिक—'प्यारी, वर ही रहो उर्मिला रानी सी तुम।'

वस्तु विन्यास— (घटनाओं का क्रमिक विकास)—अभी हम देख चुके हैं कि साकेत की घटनाएँ सभी उर्मिला के जीवन-चरित्र से सम्बद्ध हैं—परन्तु इसका तात्पर्य्य यह नहीं है कि उर्मिला का व्यक्तित्व ही केवल इन्हें अन्वित किए हुए है—उनमें स्वयं कोई क्रम अथवा सम्बन्ध नहीं है ! सफल काव्यों में प्रधानता चाहे चरित्र की हो अथवा वस्तु की परन्तु उपेक्षा दोनों में से किसी की नहीं को जा सकती ! अतः साकेत की कथावस्तु में यह भी देखना आवश्यक है कि उसमें घटनाओं की परम्परा

का उचित विन्यास कहाँ तक हुआ है और उनका विकास क्रमिक है अथवा अस्तव्यस्त ! अरस्तू के अनुसार वस्तु के तीन अंग—आदि, मध्य और अवसान तीनों स्पष्ट होने चाहिए—तभी विन्यास संघटित होगा ! साकेत की मुख्य कथा उर्मिला-लक्ष्मण के संयोग-वियोग की कथा है जिसके साथ राम और सीता की कथा भी लिपटी हुई है। उसकी परीक्षा करने पर हमें उक्त तीनों अंग स्पष्ट परिलक्षित हो जाएंगे ! उर्मिला-लक्ष्मण की विनोद-वार्ता से लेकर उनके चित्रकूट-मिलन तक आदि, समस्त विरह-निवेदन मध्य, और एकादश सर्ग में शत्रुघ्न द्वारा राम के कार्यों की चर्चा से लेकर मिलन तक अवसान है ! प्रारम्भ में दम्पति का प्रेम-परिहास, कैकयी की वर-याचना, राम-लक्ष्मण की विदा, दशरथ-मरण, सभी दृश्य चित्रकूट के उस मिलन की ओर उन्मुख हैं ! वास्तव में पहिला वियोग चित्रकूट के मर्म-स्पर्शी क्षणिक मिलन के उपरांत ही पूर्ण होता है ! इसके बाद नवम और दशम सर्ग में विरहिणी का विरह-निवेदन है जो भरत-माण्डवी के वार्तालाप तक चलता है। यह विस्तृत विरह-निवेदन कथा की गति को आवश्यक विराम देता है—साथ ही इसकी गंभीरता भी मध्य के अनुकूल ही है ! शत्रुघ्न द्वारा राम के साहसिक-कृत्यों का वर्णन कथा को अवसान की ओर उन्मुख करता है—उनके शब्दों में शूर्पणखा के अपमान की चर्चा है जो साकेत की चरम घटना (catastrophe) अर्थात् लक्ष्मण-पुनर्जीवन का बीज स्वरूप है। शूर्पणखा के प्रसंग से ही प्रत्याशा

प्रारम्भ हो जाती है, और लक्ष्मण की मूर्छा भंग होते ही नियताप्ति समझनी चाहिए। आगे मेघनाद के वध से रावण और उसके साथ ही उर्मिला लक्ष्मण का मिलन निश्चित होता है। बस फिर कार्य सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार साकेत का वस्तु-विन्यास सम्पूर्ण है! साथ ही प्रांसगिक कथाओं का भी मुख्य कथा से घनिष्ट सम्बन्ध है! उनमें कवि ने ऐसी घटनाएँ प्रायः नहीं आने दीं जिनका मूल-वस्तु पर कोई प्रभाव न हो! इसी का विचार रखते हुए कवि ने कथा का वर्णन उर्मिला-लक्ष्मण की विनोद-वार्ता से किया है जिससे राम के अभिषेक का संकेत मिलता है। इससे पूर्व भी रामायण की कुछ मुख्य घटनाएँ हैं जैसे राम-लक्ष्मण का कौशिक के साथ जाना, ताड़का-वध, धनुषयज्ञ आदि, परन्तु उनमें राम और सीता की प्रधानता होने से कवि ने उनका प्रयोग प्रासंगिक कथाओं के रूप में किया है! वे सभी उर्मिला की 'स्मृति' की पोषिका होकर आयी हैं। शत्रुघ्न और हनुमान द्वारा वर्णित कथाएँ भी लक्ष्मण से सम्बद्ध होने के कारण मूल-कथा के निकट हैं! अब तीन घटनाएँ रह जाती हैं—दशरथ-मरण, भरत-आगमन और चित्रकूट प्रसंग जिनका कवि ने बड़े मनोयोग से अंकन किया है—और जिनका स्थान भी साकेत में बहुत ऊँचा है! पाठक पूछ सकता है कि इनका मूल वस्तु से क्या सम्बन्ध है ? बस यहीं कथा की एकता टूट जाती यदि उर्मिला का चरित्र-विकास उसको न सम्हाल लेता! वास्तव में ये प्रसंग उर्मिला के चरित्र-विकास पर

प्रतिघात करते हैं—मूल कथा से उनका सम्बन्ध नहीं यह बात तो नहीं, परन्तु काफी दूर का है यह मानना ही पड़ेगा। कवि की अपनी भावना भी यहाँ बाधक हुई है। "यद्यपि मेरी सहानुभूति उर्मिला के साथ बहुत थी फिर भी मेरी श्रद्धा और पात्रों को न छोड़ सकी······सब के विषय में मुझे अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रगट करनी थी।" वह यहाँ रस के प्रवाह में ठीक उसी प्रकार बह गया है जिस प्रकार प्रेमचन्दजी रंगभूमि के कुछ प्रासंगिक स्थलों में। इनका महत्व कुछ स्वतंत्र सा हो जाने से कथावस्तु के संघटन में व्यवधान पड़ता है! कवि को स्वयं भी इसका अनुभव हुआ है। 'साकेत' नाम ही इसका प्रमाण है।

मौलिक उद्भावनाएँ:—अब प्रश्न घटना-विषयक नवीनताओं का रह गया। जैसा कि मैं पूर्व ही कह चुका हूँ मैथिली बाबू ने कथा में अनेक नवीन उद्भावनाएँ की हैं। ये सभी उद्भावनाएँ कवि की गम्भीर भावुकता और प्रौढ़ कल्पना का परिचय देती हैं। साकेत लिखने का मूल उद्देश्य उपेक्षित। उर्मिला के प्रति न्याय करना था—अतः उसीके अनुसार आवश्यक उद्भावनाएँ भी हुईं। साथ ही साकेत लिखते समय कवि के सम्मुख मौलिकता का भी प्रश्न रहा होगा। वाल्मीकि और तुलसी ने जिस स्थल का चित्रण किया है—वहाँ अन्तिम बात कह दी है। राम काव्य का अधिक न पनपना इसका एक प्रमाण है। अतः उसने एक ओर तो उर्मिला, माण्डवी, कैकेयी, आदि उपेक्षित पात्रों को अपनाया—दूसरी ओर उपेक्षित प्रसंगों का चयन कर के उनका सविस्तार

चित्रण किया। इसके अतिरिक्त उनकी उद्भावनाओं के मूल में इस युग की विशेष आकांक्षाएँ और विश्वास भी हैं।

१—सबसे पूर्व तो उर्मिला से सम्बन्ध रखने वाली समस्त घटनाएँ ही कवि के मस्तिष्क की उपज हैं—पुष्पवाटिका में केवल सीता ही नहीं उर्मिला भी राम-लक्ष्मण के दर्शन करती है, और सीता के साथ वह भी अपने मन को वहीं खो बैठती है—यह नया प्रसंग है!

२—चित्रकूट की सभा में कैकेयी स्वयं अपनी सफाई देती है। तुलसी ने तो 'गई गलानि कुटिल कैकेई' कह कर ही उसे छोड़ दिया था मानों उसको कुछ कहना ही न हो। यहाँ वह अपने मातृत्व—अपने वात्सल्य की दुहाई देकर अपने कृत्य का मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित करती है। कैकेयी का चरित्र यहाँ अत्यन्त उज्ज्वल हो जाता है। उसके हृदयाकाश से मोह के बादल हट जाते हैं और वह पुनः स्वच्छ हो जाता है। कवि की कल्पना का यह अभूतपूर्व उदाहरण है! उर्मिला के चरित्र-विकास में इसका महत्व है।

३—बालकाण्ड की कथा उर्मिला, अरण्य की शत्रुघ्न, किष्किन्धा और लंका की हनूमान कहते हैं। (इस ढंग पर, पिछली कथा का आगे वर्णन करने की प्रेरणा कवि को मेघनाद-वध से मिली है।) शेष युद्ध का दृश्य वशिष्ठजी साकेत के नागरिकों को दिखाते हैं। इस प्रकार चित्रकूट-मिलाप के बाद की सभी घटनाएँ घटित न हो कर वर्णित होती हैं।

उर्मिला का नायिका और ग्रन्थ का साकेत होना स्वाभावतः इस परिवर्तन की अपेक्षा करता है क्यों कि उन सबका उर्मिला से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं। यह स्थान-ऐक्य और उससे अधिक घटना-ऐक्य के लिए परमावश्यक था। वैसे तो ये सभी बातें स्वाभाविक और सकारण हैं परन्तु हनूमान को इतना काव्य-मय विवरण देने का समय नहीं था। यद्यपि यहाँ पर भी कवि की कल्पना ने कौशल दिखाया है—जड़ी भरत से ही हनूमान को मिल जाती है और अयोध्या से हिमालय तक जाने का समय उनके पास शेष रह जाता है। परन्तु फिर भी अस्वाभाविकता है ही—हाँ मानस से कम है।

४—इसी स्थल पर साकेत में हमें एक और नवीनता मिलती है—वह है हनूमान से लक्ष्मण-शक्ति की वार्ता सुन कर साकेत-वासियों की रण-सज्जा। वास्तव में कवि की राष्ट्र-प्रेम में रंगी भावुकता को यह सह्य न हो सका कि राम और लक्ष्मण की इस विपत्ति को सुन कर भी उन पर मर मिटने वाले भरत, शत्रुघ्न और साकेत के प्रजाजन चुपचाप बैठे रहें। तुलसी के राम को तो इसकी आवश्यकता ही नहीं थी—(यद्यपि एक स्थान पर गीतावली में इस ओर संकेत अवश्य है) और भरत आदि भी इस बात को पूर्णतया जानते थे कि 'भृकुटि-विलास सृष्टि-लय होई, सपनेहु संकट परै कि सोई'; अतः उनके लिए तो यह प्रश्न ही अनावश्यक था। साकेत का यह स्थल बड़ा सजीव है। कवि की राष्ट्रीयता बोल उठी है। यह उद्भावना स्वाभाविकता, भावुकता

और राष्ट्रीयता के आग्रह का फल तो है ही साथ ही उर्मिला के चरित्र के वीर-पक्ष पर भी इससे प्रकाश पड़ता है ।

इन प्रमुख परिवर्तनों के अतिरिक्त और भी कुछ साधारण नवीनताएँ हैं जिनकी कवि ने स्वाभाविकता की रक्षा के लिए अथवा भावुकता के अनुरोध-वश यत्र-तत्र उद्भावना की है। उदाहरण के लिए कैकयी-मंथरा-संवाद में मनोविज्ञान का ही आश्रय लिया गया है—'गई गिरा मति फेर' का नहीं । इसीलिए साकेत की मंथरा चली जाती है । यहाँ उसका चला जाना मनोविज्ञान की एक चाल है और इसका प्रभाव भी अभीप्सित ही होता है—

"गई दासी पर उसकी बात
दे गई मानों कुछ आघात ।"

दूसरे, राजा दशरथ ही यहाँ कैकेयी से वर माँगने के लिए कहते हैं—उसे तो याद भी नहीं रही थी । ऐसा कदाचित् कैकेयी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करने के ही निमित्त हुआ है। इसके अतिरिक्त गुप्तजी ने भरत की अनुपस्थिति का कारण भी उर्मिला-लक्ष्मण वार्तालाप और दशरथ के शब्दों द्वारा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। साकेत में दशरथ की मृत्यु का वर्णन मानस की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तृत है और उसके बाद रानियों के सती होने का प्रस्ताव भी है जो श्लाघ्य है। दशरथ की मृत्यु के उपरांत उनकी एक भी रानी परलोक-यात्रा के लिए प्रस्तुत न हो—ऐसा उनके गौरव के अनुकूल नहीं । तुलसीदासजी

तो राम में इतने तन्मय थे कि उनके सम्मुख ये अतिरिक्त प्रश्न आए ही नहीं। सुलोचना, विन्दुमती आदि राक्षस-पत्नियाँ तो अपने पतियों के साथ सती होगईं किन्तु कौशल्या सुमित्रा जैसी आदर्श महिषियों ने इस का विचार तक प्रकट न किया। साकेतकार ने इस असंगति को पहिचाना है और उनकी कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती हैं, परन्तु भरत की विनय और वशिष्ट के उपदेश उन्हें रोक लेते हैं। वैसे भी, कवि की अपनी भावना भी यही है कि

'सह-मरण के धर्म से भी ज्येष्ठ
जन्म-भर स्वामि स्मरण है श्रेष्ठ'

परन्तु रानियों की अपनी भावना भी तो प्रकट होनी चाहिए न। अंतिम नवीनता राम-रावण-युद्ध में है। लक्ष्मण के शक्ति लगने पर राम मोहाभिभूत होकर विलाप नहीं करते—वरन् एक साथ उद्दीप्त होकर प्रलय मचा देते हैं। उस समय कुम्भकर्ण उनके सम्मुख पड़ जाता है और वे "भाई का बदला भाई ही" कह कर उसका संहार कर देते हैं। कुम्भकर्ण के बाद जब वे रावण की ओर मुड़ते हैं तो क्या देखते हैं कि हाय! 'किन्तु इसके पहिले ही मूर्छित हुआ निशाचर-राज।' और 'प्रभु भी—यह कह गिरे राम से रावण ही सहृदय है आज।' यह प्रसंग बड़ा महत्वपूर्ण है—इसके सम्मुख रामचरित-मानस अथवा रामायण का कुम्भकर्ण-वध निर्जीव है—निष्प्राण है।

तो इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने उपेक्षित स्थलों में

भावना का रंग भर कर, अप्राकृतिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या कर के—और अस्वाभाविक प्रसंगों के मनोवैज्ञानिक कारण उपस्थित कर कथा के कलेवर को ही बदल दिया है। यह उसका गौरव है।

साकेत में गार्हस्थ्य-चित्र

मानव ममत्व की प्रतिमूर्ति है—वह अपने में इतना रमा हुआ है कि संसार को अपनेपन के रंग में डुबो कर ही देखता है। मेरा जगत की अन्य वस्तुओं से क्या सम्बन्ध है—उनकी स्थिति मेरी सापेक्षता में और मेरी स्थिति उनकी सापेक्षता में क्या महत्व रखती है, यही एक बात अनेक रूपों में उसके मन में बनी रहती है। एक ओर वह अपने में जगत को ढूंढ़ निकालता है, दूसरी ओर जगत की भिन्न-भिन्न वस्तुओं में अपने को ढूंढ़ निकालने का प्रयत्न करता है। कविता उसकी इसी जिज्ञासा-वृत्ति का प्रतिफलन है। इसीलिए आधुनिक आचार्यों ने उसकी परिभाषा करते हुए कहा है कि "कविता वह साधन है कि जिसके

द्वारा मनुष्य का शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है—और उसकी रक्षा होती है।" कविता मनुष्य को इसी कारण सबसे अधिक प्रिय रही है कि वह उसके ममत्व की भूख को मिटाने में सबसे अधिक समर्थ सिद्ध हुई है और उसके राग-द्वेषों का सबसे सुन्दर प्रतिबिम्ब है। कविता के तीन तत्व, राग, कल्पना और विचार में राग का ही प्राधान्य है—कविता है ही भाव-प्राण। विचार और कल्पना तभी कविता की सृष्टि कर सकते हैं—जब उन पर राग का रंग चढ़ा हो। इसलिए कवि की परीक्षा उसके हृदय की परीक्षा है—उसका गौरव उसके हृदय की विशालता और गम्भीरता के अनुपात से ही होता है।

साकेत जीवन-काव्य है। उसमें एक व्यक्ति का जीवन अनेक अवस्थाओं और व्यक्तियों के बीच अंकित है—अतः उसमें मानव राग-द्वेषों की क्रीड़ा के लिए विस्तृत क्षेत्र होना स्वाभाविक है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उसके लिए प्रतिभा की अपेक्षा न हो—विशेषकर साकेत जैसे काव्य में जहाँ कवि को समस्त कथानक को ही नवीन रूप देना पड़ा है। मैथिली बाबू ने एक ओर उपेक्षित पात्रों को लिया है—उधर परिचित सरस प्रसंगों को प्रायः न अपनाकर, नवीन स्थलों को चुन कर उनमें रस-सिंचन किया है। अतः उनके हृदय की काफ़ी कठिन परीक्षा हुई है। इस परिच्छेद में हमें साकेत के मधुर गृहस्थ की झांकी दिखाते हुए उसी का विश्लेषण करना है।

सभी मनोरागों का मूल है अहम्—अस्मिता-वृत्ति जो प्रकट

होकर राग-द्वेष का रूप धारण करती है। ये ही राग-द्वेष असंख्य स्पष्ट और अस्पष्ट भाव-भावनाओं में पल्लवित होते हैं। संस्कृत के रस-शास्त्रियों ने उनकी गणना की है, परन्तु पर्याप्त रूपेण स्तुत्य होने पर भी वह आधुनिक मनोविज्ञानी को मान्य नहीं! मन अथाह सागर है, उसमें कितनी ऊर्म्मियाँ उठती हैं, इसका कौन अनुमान लगा सकता है। फिर भी मनोवेगों का हमारा यह वर्गीकरण किसी अंश तक ठीक है। यदि इसमें मनोविज्ञान की नवीन शोधों के अनुसार परिवर्तन कर लिया जाए, जैसा कि आचार्य शुक्ल ने किया है, तो राग-पक्ष को समझने में काफी सहायता मिल सकती है।

हाँ तो अहम् अपने वाद मनुष्य को अपनों के प्रति खींचता है—इसलिए उसका ममत्व सबसे पहले अपने परिवार पर ही प्रकट होता है क्योंकि वह उसके सबसे निकट है। अतः स्वभाव से ही उसके भावों का बहुत बड़ा अंश अपने कुटुम्ब पर ही केन्द्रित रहता है। यही उसके भावों का सब से पहिला और सबसे सुन्दर क्रीड़ा-क्षेत्र है। यहीं से उसका लौकिक जीवन आरम्भ होता है। यहीं वह अहं का इदं से समन्वय करता हुआ उसका उपयुक्त विकास करता है। तभी तो भारतीय संस्कृति में पारिवारिक-जीवन को विशेष महत्व दिया गया है। जिसने गुप्त जी के काव्यों का एक बार भी अध्ययन किया होगा वह अवश्य ही मान लेगा कि उनको गृहस्थ जीवन के चित्र खींचने में अद्वितीय सफलता मिली है। यह युग राष्ट्रीयता का

होने के कारण लोग उनकी राष्ट्रीयता को ले उड़े, अन्यथा उनकी प्रधान विशेषता गृहस्थ जीवन के सुख-दुख की व्यञ्जना ही है। यह बात कहते हुए मेरे सम्मुख चिरगाँव के रामभक्त गुप्त-परिवार का वह स्नेह-स्निग्ध, ममत्वपूर्ण जीवन उपस्थित हो जाता है। वह पारिवारिक जीवन कितना सरल, कितना स्वस्थ और कितना पूर्ण है। उस वातावरण में रहने वाले कवि का गार्हस्थ्य-मर्मी होना स्वाभाविक है। चिरगाँव जाने से पूर्व ही इन पंक्तियों का लेखक गुप्तजी के परिवार-चित्रों पर मुग्ध था—वहाँ जाना तो कार्य से कारण का सम्बन्ध जोड़ना मात्र था।

साकेत में रघु-परिवार के सुख-दुख का वर्णन है। यह परिवार सूर्यकुल का महान राज-परिवार है, परन्तु प्रकृति ने राजा और भिखारी के सुख-दुख में अंतर नहीं रखा। दोनों के हृदय में एकसा स्पन्दन और दोनों की आह में एकसा दर्द है। इस परिवार का जीवन आदर्श हिन्दू-गृहस्थ का जीवन है। उसमें इस जीवन के अनेक सफल चित्र हैं—पति-पत्नी हैं, पिता हैं, पुत्र-पुत्रियाँ हैं, माताएं हैं, विमाताएँ हैं, देवर भाभी हैं, सासें और पुत्र-वधुएँ हैं, स्वामी और सेवक हैं। परन्तु विभिन्न व्यष्टियों से बना हुआ यह परिवार एक सम्पूर्ण समष्टि है। यह इसकी क्या सभी सुखी-परिवारों की विशेषता है।

एक तरु के विविध सुमनों से खिले,
पौरजन रहते परस्पर हैं मिले।

एक भी आँगन नहीं ऐसा यहाँ।
शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ।
कौन है ऐसा अभागा गृह कहो,
साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो।

उपर्युक्त उद्धरण में 'शिशु न करते हों कलित क्रीड़ा जहाँ' और 'साथ जिसके अश्व-गोशाला न हो' इन बातों ने गृहस्थ का बाह्य-चित्र पूर्ण कर दिया है।

गृहस्थ जीवन का प्राण है दाम्पत्य—क्योंकि मनुष्य के भाव-कोष पर सब से व्यापक और गहरा अधिकार उस व्यक्ति का होगा जो उसके सबसे अधिक निकट है! इस दृष्टि से जीवन में सेक्स (काम) की प्रमुखता होने के कारण स्त्री-पुरुष का नैकट्य ही सर्वाधिक ठहरता है! उनके लिए मानसिक एकता के साथ शारीरिक एकता भी तो अनिवार्य हो जाती है! मर्यादावादियों ने इस सम्बन्ध को दाम्पत्य में ही सीमित कर दिया है क्यों कि इस एकता का विकास मर्यादाबद्ध होकर ही—अर्थात् विवाह-सम्बद्ध होकर ही हो सकता है! इस प्रकार हम देखते हैं कि स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध अथवा रति, अथवा शृङ्गार ही मनुष्य जीवन की प्रमुख भावना है और मन प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इसमें रमता रहता है! साकेत के दशरथ-परिवार में पाँच दम्पति हैं—उर्मिला-लक्ष्मण, राम-सीता, भरत-माण्डवी, दशरथ और उनकी तीनों रानियाँ (विशेष कर कैकेयी)—शत्रुघ्न और श्रुतकीर्ति! उसका प्रधान कार्य ही चौदह

वर्ष की दीर्घ अवधि के उपरान्त उर्मिला लक्ष्मण का मिलन है अतः स्वभावतः उसका प्रधान रस शृङ्गार है—और शृङ्गार में भी, जीवन में विरह की विशेषता के कारण, वियोग-पक्ष प्रधान है, परम्परावादी जिसे 'विप्रलम्भ शृङ्गार' का 'प्रवास' अंग कहेंगे। ऐसे काव्य में दाम्पत्य जीवन के मधुर चित्र होना स्वाभाविक ही है। पहिले दाम्पत्य-जीवन का आदर्श क्या है, यह सुनिए। उर्मिला-लक्ष्मण का पारस्परिक विनोद वार्तालाप हो रहा है। लक्ष्मण पत्नी के गौरव की परिभाषा करते हुए कहते हैं—

'भूमि के कोटर, गुहा गिरि-गर्त भी,
शून्यता नभ की, सलिल-आवर्त भी,
प्रेयसी, किसके सहज संसर्ग से,
दीखते हैं प्राणियों को स्वर्ग से ?

इन शब्दों में लक्ष्मण ने स्त्रीत्व के चरम महत्व की व्याख्या कर दी है! स्त्री का सब से बड़ा सौन्दर्य यही है कि उसके संसर्ग से जीवन में रस आ जाता है! जगत के शून्य चित्र रंगीन बन जाते हैं! उधर उर्मिला नारी का प्रतिनिधित्व करती हुई पुरुष की महिमा का गान इस प्रकार करती है—

खोजती हैं एक आश्रय मात्र हम
चाहती हैं एक तुम सा पात्र हम।
आन्तरिक सुख दुःख हम जिसमें धरें
और निज भव-भार यों हलका करें।

उर्मिला दम्पति-विज्ञान का कितना मधुर व्याख्यान करती

है। स्त्री और पुरुष का यह सम्बन्ध अनादि काल से अटूट इसीलिए रहा है कि जीवन में दोनों को एक ऐसे साथी की आवश्यकता का अनुभव होता है जिससे वे अपने सुख-दुख कह सुन सकें। स्त्री में हृदय का प्राधान्य होने के कारण उसको ऐसे पात्र की आवश्यकता अधिक रहती है जिसमें वह अपने तन-मन की भावुकता उंडेल सके। यह आवश्यकता मानसिक से अधिक शारीरिक है। भावों का व्यक्तीकरण शरीर के स्वास्थ्य के लिए भी तो ज़रूरी है। अन्यथा जीवन भार हो जाए! इसीलिए तो उर्मिला कहती है—

'और निज भव-भार यों हलका करें।'

इन्हीं दम्पति का संयोग-वियोग साकेत का जीवन है। प्रारम्भ में दोनों के हास्य-विनोद द्वारा कवि ने संयोग शृंगार का मधुर चित्रण किया है। एक आधुनिक विद्वान ने हास की मूल-वृत्ति दर्प बतलाई है—यहाँ यह दर्प प्रेम-दर्प है। प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे को छकाने के निमित्त जिन दर्पोक्तियों का सहारा लेते हैं उनमें एक विशेष प्रकार का मधुर-गर्व है जिसका उद्गम है एक दूसरे के हृदय पर अपने प्रभुत्व की भावना। प्रेम-परिहास करते-करते लक्ष्मण उर्मिला से कह उठते हैं—

'किन्तु मैं भी तो तुम्हारा दास हूँ।'

देखिए, उर्मिला सहमती नहीं—वह कहती है—

'दास बनने का बहाना किस लिए,
क्या मुझे दासी कहाना इस लिए!'

आप चाहे कुछ वन लें, मैं दासी न वनूँगी। कितन मीठा गर्व है!—राम और सीता के जोवन में संयोग का आधिक्य रहा—'(वे) वन में भी गृही रहे।' उनको शायद् रोमांस का भी अधिक अवसर मिला। राम की प्रकृति गंभीर थी परन्तु मर्यादा-मूर्ति राम सीता के सम्मुख साधारण मनुष्य वन जाते हैं—उनका परिहास अमित प्यार और दुलार से भरा हुआ है! सीता वन के वृक्षों को सींचती फिर रही हैं। राम उनकी इस प्रकृत सौन्दर्य-श्री का पान कर रहे हैं। कुछ देर वाद उनसे रहा न गया—उनके हृदय का रस शब्दों में विखर ही गया—

'हो जाना लता न आप लता-संलग्ना,
करतल तक तो तुम हुईं नवलदल-मग्ना!
ऐसा न हो कि मैं फिरूं खोजता तुम को!'

इतना ही नहीं, उस दिन वातावरण में कुछ अधिक मादकता थी; राम कुछ और आगे वढ़े! सीता ने कुटिया में अनेक प्रकार के फल फूल लगा रक्खे थे—उनमें सीताफल भी था। राम को आज उसी की विशेष चिन्ता हुई और श्लेष की आड़ में एक परिहास का वाण छोड़ ही तो दिया—

"वह सीताफल जव फले तुम्हारा चाहा,
मेरा विनोद तो सफल, हँसी तुम आहा!"

दम्पति का सम्वन्ध काफ़ी दूर तक जाता है अतः उनके लिए ऐसा विनोद स्वाभाविक है—नित्यप्रति की वात है। भक्त कवि ने यहाँ कवित्व की रक्षा भक्ति का मूल्य देकर की है। दाम्पत्य के

मूल में जैसा कि मैंने अभी कहा, काम (Sex) की प्रेरणा है— उसी के कारण स्त्री पुरुष की ओर और पुरुष स्त्री की ओर पागल हो कर बढ़ता है—यही पागलपन संयत और मर्यादित होकर दाम्पत्य में विकसित होता है ! परन्तु उसका जन्म और पोषण सैक्स की भावना द्वारा ही होता है यह निर्विवाद सिद्ध है ! दाम्पत्य-सूत्र में बँधने से पूर्व के आकर्षण को रसाचार्यों ने पूर्व-राग कहा है। आकृष्ट होने के उपरांत सम्बद्ध होजाने में अधिक सौन्दर्य्य और स्थिरता है, उसमें कवित्व भी अधिक है ! इसी लिए तो लक्ष्मण और राम को पुष्पवाटिका में देखकर उर्मिला और सीता के—

'दृग दर्शन हेतु क्या बढ़े
उन पैरों पर फूल-से चढ़े।'

यहाँ उनके अन्तर की नारी पुरुष को देख कर मुग्ध हो जाती है और सीता कह उठती हैं—

'नभ नील अनन्त है अहा।'

राम की अनन्त नीलिमा में सीता का मन खोगया और वे विह्वल हो कर कह उठीं—

'उनकी पग-धूलि जो धरूँ
न अहिल्या-अपकीर्ति से डरूँ।'

इधर उर्मिला का भी आत्मगर्व नष्ट हो गया, और '(वे) हारीं पर तुच्छ जीत क्या !' प्रथम-दर्शन के इस चित्र में मनो-विज्ञान और काम-शास्त्र दोनों का सुन्दर समावेश है। पहिले रूप-मोह, फिर

विकलता (स्पर्श की भी) और अंत में एक साथ हर्ष-पुलक तीनों का क्रमिक विकास वैज्ञानिक है। परन्तु गुप्तजी का दृष्टि-कोण सर्वथा प्राकृतिक हो, यह बात नहीं। वे मर्यादावादी कवि हैं। उन्होंने इस प्रसंग में सीता और उर्मिला के आदर्श की रक्षा की है। उर्मिला धनुष का भीमाकार देख कर धैर्य खो बैठी—

'प्रभु चाप न जो चढ़ा सके।'

विकलता स्वाभाविक थी, परन्तु सीता का गौरव चमक उठता है—और वे कहती हैं—

चढ़ता उनसे न चाप जो

× × ×

उठती यह भौंह भी भला
उनके ऊपर तो अचञ्चला!

इस आत्म-विश्वास में, इस अभिमान में कितना गौरव है जिसके बिना उर्मिला-लक्ष्मण, सीता-राम का प्रेम काम-तृप्ति मात्र ही रह जाता! स्वयंवर सभा जुड़ी, सीता उर्मिला आदि भी वहाँ पहुँचीं। राम लक्ष्मण उपस्थित थे ही। धनुषयज्ञ आरम्भ हुआ! राजा सिर मार कर मर गए—

'न रही नाक पिनाक न उठा।'

तब दुखी होकर जनक ने कहा—

'बस बाहुजता विलीन है,
वसुधा वीर-विहीन दीन है।'

सभा में सन्नाटा छा गया—परन्तु

'कहता यह बात कौन है
सुनता सत्कुल-जात कौन है।
गरजे प्रिय जो नहीं नहीं
सरयू ये हत नेत्र थे वहीं।'

"इस समय लक्ष्मण की ओर उर्मिला का मन कितने और अधिक वेग से आकर्षित हुआ होगा, लक्ष्मण के स्वरूप ने किस शक्ति के साथ उसके हृदय में घर किया होगा!" यही दाम्पत्य प्रेम वन की जीर्ण शीर्ण कुटिया को राजभवन में परिणत कर देता है और "मृदु तीक्ष्ण वेदना एक-एक अंतर की, बनजाती है कल गीति समय के स्वर की।" संयोग रति इतने पर ही समाप्त नहीं होती; मानसिकता का स्थान काव्य में बड़ा ऊंचा है और प्रेम में भी उसका ही महत्व है—परन्तु संयोग में शारीरिकता अनिवार्य है और उसका तिरस्कार करना प्रकृति के नियमों का तिरस्कार करना है। साकेत में ऐसे चित्र भी हैं।—उर्मिला एक दिन की बात सखी से कह रही है।

'आये एक बार प्रिय, बोले—'एक बात कहूँ,
विषय परन्तु गोपनीय सुनो कान में।'
'मैंने कहा कौन यहाँ?' बोले 'प्रिये, चित्र तो हैं;
सुनते हैं वे भी राजनीति के विधान में।'
लाल किए कर्ण-मूल होठों से उन्होंने, कहा—
'क्या कहूँ सगद्गद हूँ मैं भी छद-दान में,

कहते नहीं हैं करते हैं कृती।' सजनी मैं
खीझ के भी रीझ उठी उस मुसकान में।

वास्तव में यह गोपनीय रहस्य और उसकी अभिव्यक्ति बड़ी मनोहर है। "कामिनोऽपि रहस्याख्यानं व्याजश्चुम्बनमेव प्रधानम्" के अनुसार क्रियाविदग्ध नायक की यह करतूत खीझ कर भी रीझने योग्य थी। पहिले सर्ग का चित्र-लेखन प्रसंग भी ऐसा ही है। बाद में यही जीवन-रस विरहिणी की वियोग-ज्वाला के लिए घृत की आहुति बन गया और हम उसे हेमन्त से कहते हुए सुनते हैं—

'सीसी करती हुई पार्श्व में लख कर जब तब मुझ को,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुझको।'

संयोग का कितना स्वाभाविक और मार्मिक चित्र है—कितना सच्चा। साकेत के इन स्थलों पर कुछ प्यूरिटन समीक्षकों ने आक्षेप किए हैं। उनका कहना है कि इस शृंगार में कामुकता की गन्ध है। परन्तु वास्तव में ये चित्र सर्वथा स्वस्थ शरीर-सुख की अभिव्यक्ति करते हैं। मानव जीवन में आत्मा का निदर्शन शरीर है, और उसकी उपेक्षा करना या तो दम्भ है, या प्रकृति-विरोध! साथ ही यह स्पष्ट है कि शरीर-सुख की प्रधानता होते हुए भी इन में मानसिक उल्लास का आभास है, और शील-मर्यादा का किसी प्रकार भी उल्लंघन नहीं है। जिस प्रकार शरीर-सुख के बिना दाम्पत्य जीवन अपूर्ण है, इसी प्रकार इन चित्रों के बिना साकेत का संयोग-वर्णन भी अपूर्ण रह जाता—और उसमें ऐन्द्रियता का अभाव होता।

इस संयोग की परिणति है उर्मिला-लक्ष्मण के मिलन में। चौदह वर्ष की अवधि के गुरु-भार को तिल-तिल काटने के उपरांत आज लक्ष्मण और उर्मिला मिले हैं। इस बीच में न जाने कितनी घटनाएं घटित हो चुकी हैं। पृथ्वी चौदह वार सूर्य के चारों ओर घूम चुकी है। नवीन प्राचीन, और प्राचीन आज नवीन लगता है। हृदय में अनेक भावों का तूफान उमड़ रहा है। उर्मिला आज क्या प्रश्न करेगी? लक्ष्मण उस से क्या पूछेंगे? कुछ नहीं; भावों का अजस्र प्रवाह आज सभी प्रश्नों और जिज्ञासाओं को वहा ले गया। 'किन्तु कहाँ वे गीत—यहाँ जब श्रोता आया।' इसीलिए 'पाकर अहा उमंग उर्मिला-अंग भरे थे।' सखी कहती है "···आओ तनिक तुम्हें शृंगार सजाऊं।' परन्तु उर्मिला को इतना अवकाश कहाँ, उसे तो आज इसकी आवश्यकता ही नहीं—वह उत्तर देती है—

'हाय सखी शृङ्गार मुझे अब भी सोहेंगे
क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे।
मैंने जो वह दग्ध-वर्तिका चित्र लिखा है
तू क्या उसमें आज उठाने चली शिखा है।
नहीं नहीं प्राणेश मुझी से छले न जावें
जैसी हूँ मैं नाथ मुझे वैसी ही पावें।
शूर्पणखा मैं नहीं, हाय तू तो रोती है।
अरी हृदय की प्रीति हृदय पर ही होती है।'

उक्त पंक्तियों में कवि ने नारी-हृदय का. अथवा यों कहिए,

पत्नी के हृदय का बड़ा सच्चा चित्र अंकित कर दिया है ! प्रत्येक प्रेमी को यह विश्वास होता है—उसकी सब से बड़ी साध होती है—कि उसका प्रिय उसके अपने व्यक्तित्व से प्रेम करता है, किसी आनुषंगिक कारण-वश नहीं ! उसकी वेश भूषा या बाह्य प्रसाधन इसका हेतु नहीं, यदि हों भी तो उसे सह्य नहीं। इसीलिए तो उर्मिला कहती है 'क्या वस्त्रालंकार मात्र से वे मोहेंगे।' इस कथन में एक और ध्वनि है:—उर्मिला को अपने यौवन की क्षति पर भी कुछ दुःख है—परन्तु यह दुख अपने लिए नहीं लक्ष्मण के लिए है क्यों कि यौवन उसकी अपनी वस्तु नहीं थी—वह तो प्रियतम की धरोहर थी—'एक प्रिय के हेतु, उसमें भेंट तू ही लाल।' अतः उसे शंका है कि कहीं लक्ष्मण को इस कारण निराशा न हो ! बस वह अपना वास्तविक स्वरूप ही प्रियतम के सम्मुख रखना चाहती है । 'शूर्पणखा मैं नहीं' में उर्मिला का सुख गर्व उसकी उभरती हुई ईर्ष्या को दबाकर और पुष्ट हो जाता है। मिलन के समय कवि ने शूर्पणखा का प्रसंग छेड़कर स्त्री के हृदय को पहिचाना है ! अस्तु !—उर्मिला सखी से कह ही रही थी

'जा नीचे दो चार फूल चुन ले आ डाली।

× × ×

वन-वासी के लिये सुमन की भेंट भली यह'

कि सहसा लक्ष्मण के शब्द सुन पड़ते हैं

'किन्तु उसे तो कभी पा चुका प्रिये अली यह।'

उर्मिला चौंक पड़ी, और

'देखा प्रिय को चौंक प्रिया ने सखी किधर थी
पैरों पड़ती हुई उर्मिला हाथों पर थी ।'

'सखी किधर थी' का संकेत अत्यन्त नाटकोपयुक्त है। इसमें गार्हस्थ्य-जीवन का एक मधुर अनुभव निहित है! प्रथम समागम के दिन प्रत्येक नव-परिणीता वधू इसका अनुभव करती है! पति के प्रविष्ट होते ही सखि का तुरन्त भाग जाना इस अवसर पर एक विशेष अर्थ रखता है! इस संयोग में भावनाओं का सागर उमड़ रहा है। ऐसे स्थलों का चित्रण करते समय भावों की संकुलता के कारण प्रायः कवि की अभिव्यञ्जना शक्ति कुण्ठित हो जाती है! परन्तु मैथिली बाबू दो पंक्तियों में सब कुछ कह देते हैं—

'लेकर मानों विश्व-विरह उस अंतःपुर में
समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।'

भावों के विस्तार का यह चित्र कितना भव्य है। इसी समय—

'रोक रही थी उधर मुखर मैना को चेरी
यह हत हरिणी छोड़ गए क्यों नए अहेरी।'

इन पंक्तियों ने तो चित्र पूर्ण ही कर दिया है। 'यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गए वे'—अब पुरानी बात हो गई। विरह का पारावार एक साथ—एक पल में—सुख की तरंगों से आलोड़ित हो उठा है।

यही स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध विपत्ति के समय जीवन में दृढ़

अवलम्ब बन जाता है। पुरुष की विपत्ति को उसकी व्यथा और परिताप को समझने और हलका करने में स्त्री से अधिक और कौन सहायक हो सकता है? पिता की मृत्यु और राम के वन-गमन से भरत पर शोक का पहाड़ टूट पड़ता है। उनकी नस-नस में ग्लानि का विष व्यापने लगता है। वे संसार को न छोड़ सकते हैं और न उसे भोग ही सकते हैं। जीवन उनके लिए एक कारावास है। ऐसे समय में उनकी व्यथा को उनके दुख-दर्द को समझने वाली एक माण्डवी ही है। माताओं और उर्मिला आदि की करुण कहानी सुन कर भरत के संतप्त हृदय से एक आह निकल जाती है—और वे कह उठते हैं—

'एक न मैं होता तो भव की क्या असंख्यता मिट जाती
छाती नहीं फटी यदि मेरी तो धरती ही फट जाती।'

माण्डवी पास ही बैठी हुई है; आदर्श पति-प्राणा रमणी के हृदय में ये शब्द तीर की तरह लगते हैं—और उसका आवेश प्राणों के कूलों को तोड़ कर वह निकलता है—

'हाय नाथ धरती फट जाती हम तुम यहीं समा जाते
तो हम दोनों किसी तिमिर में रह कर कितना सुख पाते।'
'न तो देखता कोई हमको न वह कभी ईर्ष्या करता।
न हम देखते आर्त किसी को न यह शोक आंसू भरता॥'

उक्त प्रसंग में हमको महाकवि की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक अंतर्दृष्टि का परिचय मिलता है। साकेत में माण्डवी की स्थिति बड़ी विचित्र है। न तो वह उर्मिला की भाँति वियोगिनी ही है

और न सीता अथवा श्रुतकीर्ति की भाँति संयोगिनी ही। वह ऐसे पति की भार्या है जिसका जीवन गृह-वास और वन-वास का संगम है, जो गृही होकर भी वन-वासी है, जिसके जीवन में ग्लानि और परिताप की अग्नि धधक रही है—जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध उस महापराध से है। अतः उसकी जीवन-कहानी सब से भिन्न है। उसमें अपने पति की गौरव-भावना है; उनके दुख से वह दुखी है। उनकी स्थिति पर उसे असन्तोष है, लोगों की ईर्ष्या उसे सह्य नहीं। उसमें स्त्रियोचित लालसाएँ हैं, प्रेम की आग है—परन्तु उसकी भावनाएँ वन्दिनी हैं। इसी से तो पहिले वह भरत के शब्दों को सुन कर तड़प जाती है—फिर उसकी गौरव-भावना जागृत होती है और वह कहती है—

'मेरे नाथ जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।'

सहृदय पाठक तनिक इन शब्दों की अर्थ-गरिमा और भाव-गांभीर्य्य पर विचार करें। इनमें प्रेम और ममत्व तो है ही—साथ ही स्त्रियोचित गर्व कितना भव्य है—पढ़ते ही हृदय गद्‌गद हो जाता है! यहाँ हमने काम (Sex) के आकर्षण से शून्य स्त्री का स्वरूप देखा है। यहाँ उसमें सहचरी का भाव प्रधान है, उसकी समन्वय वृत्ति की ही प्रमुखता है। तभी तो राम कहते हैं—

'अपनी सुधि ये कुल-स्त्रियाँ लेती नहीं,
पुरुष न लें तो उपालम्भ देती नहीं।

कर देती हैं दान न अपने आप को ?
कैसे अनुभव करें स्वात्म-सन्ताप को ॥'

यह तो रहा दाम्पत्य जीवन का एक पक्ष, इसके अतिरिक्त संसार की सभी वस्तुओं की भाँति उसका दूसरा पक्ष भी है। वास्तव में जीवन के लिए संयम अनिवार्य है—उससे च्युत होना जीवन की गति को विषम बना देता है। दाम्पत्य जीवन के लिए तो उसकी आवश्यकता और भी अधिक है; थोड़ी सी असावधानी उसके रस को विषमय बनाने के लिए पर्याप्त होती है। इस बात का प्रमाण हमें दशरथ के वैवाहिक जीवन में मिलता है। दशरथ बहुपत्नीक थे, फिर भी उनका प्रेम कैकेयी पर अत्यधिक था—एक प्रकार से स्त्रैणता की सीमा तक पहुँच चुका था। इसी से तो कैकेयी को कुपित देख कर—'अवनिपति उठे अचानक काँप।' और जीवन में पहिली बार पृथ्वी पर बैठ कर उसके केशों को सहलाते हुए वे उसकी मिन्नतें करने लगे। उनके रसाभ्यासी वृद्ध-हृदय में अब भी थोड़े बहुत रसिकता के संस्कार वर्तमान थे, तभी तो वे उसके कोप को प्रणय-मान समझ बैठे।

,अम्ल होकर भी मधुर रसाल, गया निज प्रणय-कलह का काल।
आज हो कर हम रागातीत, हुई प्रेमी से पितर पुनीत॥'

परन्तु फल 'वृद्धस्यतरुणी विषम्' के अनुसार ही होता है और दशरथ दाम्पत्य जीवन का दूसरा चित्र हमारे सम्मुख रखते हैं—

'दैव यह सपना है कि प्रतीति,
यही है नर नारी की प्रीति।
जिसे चिंतामणि माला जान,
हृदय पर दिया प्रधान-स्थान।
अन्त में लेकर यों विपदन्त,
नागिनी निकली वह हा हन्त!'

इस प्रकार हमें साकेत में वैवाहिक जीवन की अत्यन्त विस्तृत और सफल व्याख्या मिलती है। उसके वर्णन सरस, भावमय और सच्चे हैं जिनसे कवि की जीवन-व्यापिनी भावुकता का प्रमाण मिलता है।

दाम्पत्य के उपरान्त वात्सल्य का स्थान है! दाम्पत्य गृहस्थ जीवन का प्राण है—वात्सल्य उसकी उद्भूति है! वहाँ आत्माओं का एकीकरण है और यहाँ आत्मा का विभाजन—अथवा प्रतिफलन 'आत्मा वै जायते पुत्रः।' साकेत में एक पिता हैं और तीन माताएँ हैं, जो माता होने के साथ विमाता और सास भी हैं। यह सम्मिलित परिवार आदर्श हिन्दू परिवार है जिसमें स्वार्थ, ईर्ष्या, स्पर्धा का सर्वथा त्याग मिलता है। वहाँ ऐक्य और पारस्परिकता की रक्षा के लिए 'मेरे' और 'तेरे' की भावना का पूर्ण वहिष्कार है और इसी लिए सामञ्जस्य के लिए प्रयत्न नहीं करना पड़ता। साकेत में दशरथ वृद्ध अतएव अनिष्ट-भीरु पिता हैं। अनेक साधन और विषम तपस्या से उनको पुत्र-प्राप्ति हुई है—अतः उन पर अत्यधिक मोह होना स्वाभाविक

है। उनके वात्सल्य का परिचय हमें कैकेयी के वर माँगने पर मिलता है। वृद्ध पिता का हृदय वनवास का नाम सुनकर ही उमड़ उठता है—परन्तु उसकी अनिवार्यता का प्रत्यय होते ही उमड़ा हुआ आवेश एक साथ स्तब्ध हो जाता है और—

'हुए जीवन-मरण के मध्य घृत-से वे!
रहे बस अर्ध-जीवित अर्ध-मृत-से वे!'

कौशल्या का पुत्र-स्नेह कुछ-कुछ दशरथ से मिलता जुलता है! वे भी अनिष्ट-भीरु वृद्धा माता हैं जिनका कार्य, ऐसा मालूम पड़ता है—कुल की मंगल कामना करना ही है। इस प्रेम में वृद्ध हृदय का मोह है, भोलापन है और एक विचित्र प्रकार की निस्पृहता है। उनका हृदय दूध के समान स्निग्ध और स्वच्छ है। इसीलिए तो राम के मुख से यह सुन कर भी कि

'मुझको वास मिला वन का
जाता हूँ मैं अभी वहाँ,
राज्य करेंगे भरत यहाँ।'

'माँ को प्रत्यय भी न हुआ इसीलिए भय भी न हुआ।' यह सरल साधु हृदय की तात्कालिक स्थिति का बड़ा सुन्दर मनोवैज्ञानिक चित्र है। किसी अनिष्ट की बात एक साथ सुन कर, मनुष्य विश्वास नहीं करता और जब तक किसी बात पर प्रत्यय न हो, अर्थात् जब तक कोई बात हृदय में प्रविष्ट न हो, तब तक उससे डरना ही क्या?—वे हँस कर कहने लगीं—

'लक्ष्मण यह दादा तेरा, धैर्य देखता है मेरा।'

परन्तु जब उन्होंने देखा कि—

'ऐं लक्ष्मण तो रोता है।'

तो उनका भोला वात्सल्य एक साथ चीत्कार कर उठा—

'ईश्वर यह क्या होता है?'

फिर भी उनको आशा बधी रही और वे सोचने लगीं—

'क्या प्रथमाराध तेरा, और विनीत विनय मेरा।'

राम को क्षमा नहीं दिला सकेगा। लेकिन शीघ्र ही उन्हें लक्ष्मण से मालूम हुआ कि—

'कर मझली माँ के मन का, पथ लेते हैं ये वन का।'

तब भी उनका वात्सल्य उदार ही रहा। वे कैकेयी को दोष न देकर उसके वात्सल्य की प्रशंसा करती हैं—

'पुत्र-स्नेह धन्य उनका, हठ है हृदय-जन्य उनका।'

उनको राज्य की चाह नहीं है, कैकयी के भाग्य पर उन्हें ईर्ष्या नहीं है, उनका हृदय तो गद्गद होकर यही माँगता है 'मुझे राम की भीख मिले।' इसके लिए वे अपनी मर्यादा भी तोड़ने को प्रस्तुत हैं—छोटी सपत्नी के चरणों पर नतमस्तक हो कर भिक्षा माँगने को तैयार हैं—भिक्षा केवल इतनी मात्र भिक्षा—

'मेरा राम न वन जावे,
यहीं कहीं रहने पावे।'

'यहीं कहीं रहने पावे' में कितना दैन्य है। कौशल्या का यह भीरु मातृत्व अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहा—और जब हनूमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुन कर शत्रुघ्न

आदि ससैन्य लंका जाने को प्रस्तुत होने लगे तो वे एक साथ विचलित हो जाती हैं। वे राम की माता नहीं सभी की माता हैं। उनका दुख-दग्ध हृदय अब अधिक सहने में असमर्थ है। वे पाप पुण्य, राष्ट्रीयता, स्वाभिमान आदि कुछ नहीं समझतीं। वृद्धा शोक-विधुरा माँ का हृदय यह सब कुछ नहीं जानता—तभी वे शत्रुघ्न से कह उठती हैं—

'बेटा बेटा नहीं समझती हूँ यह सब मैं,
बहुत सह चुकी और नहीं सह सकती अब मैं।
हाय गए सो गए रह गए सो रह जावें।
जाने दूंगी तुम्हें न वे आवें तब आवें।

* * *

'देखूँ तुमको कौन छीनने मुझसे आता,
पकड़ पुत्र को लिपट गई कौशल्या माता।'

दूसरी ओर है कैकेयी जिसका वात्सल्य दीन अथवा निस्पृह नहीं है। उसमें ममत्व और मोह है, एक वेग है, एक आग है, और है प्रतिदान की स्पृहा। वह पुत्रों से प्रेम करती है, पुत्रों के लिए मरने को तैयार है। परन्तु उसमें अधिकार की भावना है और आवेग की प्रबलता। उसकी इसी दुर्बलता का फ़ायदा मन्थरा उठाती है, और रानी विवेक खो बैठती है। कैकयी में ममत्व (attachment) अन्य माताओं से अधिक है; वह भरत को ही नहीं राम को भी उतना ही—उससे ज्यादा प्यार करती है। इसी लिए तो वह कहती है—

होने पर प्रायः अर्ध-रात्रि अंधेरी,
जीजी आकर करतीं पुकार थी मेरी
'लो कुहुकिन अपना कुहुक राम यह जागा,
निज मँझली माँ का स्वप्न देख उठ भागा।'

उक्त उद्धरण में हिन्दू पारिवारिक जीवन का एक बड़ा मधुर अनुभव छिपा हुआ है। सम्मिलित सुखी परिवारों में प्रायः ऐसा होता है कि बच्चे अपनी माता के अतिरिक्त किसी अन्य गृह-देवी पितृव्या, मातामही आदि से हिल जाते हैं, और रात को उन्हें सपने में देखते ही चौंक कर उनके पास जाने को मचल जाते हैं, इस अनुभव में पारस्परिक स्नेह और सौहार्द का रहस्य है; ऐसे ही परिवार सुख-सम्पन्न होते हैं। यही कारण है कि मंथरा के भेद भरे वाक्यों को सुन कर कैकेयी कह उठती है

'वचन तू क्यों कहती है वाम,
नहीं क्या मेरा बेटा राम।'

और जब मंथरा अपनी युक्तियाँ देती ही चली जाती है—

'भेद दासी ने कहा सतर्क,
सवेरे दिखला देगा अर्क।
राज माता होंगी जब एक
दूसरी देखेंगी अभिषेक।'

तो रानी क्रुद्ध हो जाती है, क्योंकि उसे गर्व है कि—

'राम की माता कल या आज
कहेगा मुझे न लोक-समाज?—

कितना सात्विक गर्व है ! इधर जब मंथरा देखती है कि उसकी एक बात भी न चली तो वह अन्तिम बाण छोड़ती है !

'भरत को करके घर से त्याज्य,
राम को देते हैं नृप राज्य
भरत से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उसे जो गेह !'

यह निशाना भी कुछ हटकर बैठा किन्तु लक्ष्य के इतने पास अवश्य पहुँच गया कि उसका विष वहाँ तक बढ़ सकता था। कैकेयी एक साथ चमक उठती है और उसे वहाँ से निकाल देती है—

'द्विजिह्वे, रस में विष मत घोल।
उड़ाती है तू घर में कीच
नीच ही होते हैं बस नीच।
हमारे आपस के व्यवहार,
कहाँ से समझे तू अनुदार'।

बस दासी भी 'मही पर अपना माथा टेक' चुपचाप चली जाती है ! उसका इस प्रकार चला जाना कवि की अपनी उद्भावना है जिसका मूल्य युक्तियों से अधिक है। यदि वह कुछ देर और ठहरती या बहस करती तो रानी उसे जबर्दस्ती निकलवा देती, परन्तु उसका संयम और विनय काम कर गया ! कैकेयी के एक अत्यन्त दुर्बल अंग में चोट लगी । उसका रोम रोम झंकार उठा—

'भरत से सुत पर भी संदेह
बुलाया तक न उसे जो गेह ।'

वाक्य उसके मस्तिष्क में उलझ गया । उसकी पुनरावृत्ति द्वारा कवि ने भावों के आरोहावरोह का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रानी के संकल्प-विकल्पों की भीड़ को चीरता हुआ यह वाक्य प्रतिवार उसके सम्मुख आकर खड़ा हो जाता है। रानी विह्वल हो जाती है, उसका हृदय परिताप और व्यथा से आपूर्ण हो जाता है । वह सोचने लगती है कि किसको दोष दूँ ? विश्वास जैसी भावना का सूर्य-कुल में संहार ! भरत पर संशय का अनुमान मात्र ही उसके मातृत्व को कातर कर देता है—

'भरत रे भरत शील समुदाय,
गर्भ में आकर मेरे हाय,
हुआ यदि तू भी संशय-पात्र
दग्ध हो तो मेरा यह गात्र !—'

उसकी मातृ-भावना वेदना की ज्वाला में पिघल पड़ती है, परन्तु शीघ्र ही रानी में स्वाभिमान, सापत्न्य और स्त्रीत्व के भाव जागृत हो जाते हैं और वह कहने लगती है—

'मुझे भी भाई के घर नाथ
भेज क्यों दिया न सुत के साथ'

स्त्री को भाई पर बड़ा गर्व होता है, पति-कुल से विमुख होकर वह उसी ओर देख सकती है !

बस वह निश्चय करती है कि 'करूँगी मैं इसका प्रतिकार।' अब उसकी ईर्ष्या की आग बढ़ने लगी और प्रत्येक विरोधी भाव मूर्तिमन्त होकर नाचने लगा। उसके सम्मुख कौशल्या का चित्र-सा खिंच गया :—

"कौशल्या सीता को युवराज्ञी के योग्य उपदेश दे रही हैं—आज वे राज-माता हैं और इसीलिए कैकेयी की ओर हँस रही हैं।" कैकेयी काँप जाती है और भूमि पर लेट कर पैर पटकना आरम्भ कर देती है। कैकेयी की मनोदशा का यह चित्र सर्वाङ्गपूर्ण है। उसमें भावों का क्रमिक और वैज्ञानिक विकास स्तुत्य है—महाकवि के अनुकूल है।

यही 'पुत्र-स्नेह'—यही 'हृदय-जन्य हठ' आगे भयङ्कर रूप धारण करता है। यहाँ मंझली मां विमाता बन जाती है—'भरत होता यहाँ तो मैं बताती'—कह कर वह फिर मातृत्व-गर्व का सहारा लेती है। यहीं समन्वय की भावना नष्ट हो जाती है और कैकेयी और लक्ष्मण के वाद-विवाद में हमें आधुनिक परिवारों के गृह-कलह का जीता-जागता चित्र मिलता है। विमाता और सपत्नी-पुत्र की खुली गाली-गलौज होती है 'अनार्या की जनी हत-भागिनी यह' जो महाकाव्य के गौरव के सर्वथा अनुपयुक्त है। कैकेयी सभी कुछ सहती है—इसी पुत्र-स्नेह के कारण उसे पति के कटु-वाक्य, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के अपशब्द—सभी कुछ सह्य हो जाते हैं। परन्तु दुर्भाग्य और आगे चलता है, उसको भरत का तिरस्कार भी सहना पड़ता है। यहाँ आकर उसका

हृदय टूट जाता है। उसका बल नष्ट हो जाता है—उसका मातृ-गर्व पानी-पानी हो जाता है—वह उन्मादिनी होकर चिल्ला उठती है— 'सब करें मेरा महा अपवाद।

× × ×

किन्तु उठ, ओ भरत, मेरा प्यार
चाहता है एक तेरा प्यार!
राज्य कर, उठ वत्स, मेरे बाल,
मैं नरक भोगूं भले चिरकाल!'

वह स्वयं नरक भोगने को तैयार है। युवराज भरत से दण्ड-ग्रहण करने में भी उसे सुख है। यह है कैकेयी की ममता—उसका वात्सल्य! 'धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह—खा गया जो भून कर पति-देह'—भरत के ये शब्द किसी अंश में अभिधार्थ में भी सत्य हैं।

भरत की विमुखता अन्त में उसके मोहान्धकार को दूर कर देती है और चित्रकूट में हम उसकी ग्लानि को शत-सहस्र धाराओं में बहते हुए पाते हैं। वहाँ भी वह मातृत्व की ही दुहाई देती हुई कहती है—'अपराधिनि मैं हूँ तात तुम्हारी मैया।' उसको सब से बड़ा परिताप इस बात का है 'कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र, क्या तेरा'। आप देखें कि कैकेयी का मातृत्व कितना आवेगपूर्ण है! 'कुछ मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र ,क्या तेरा' कितना दर्द है! रानी के जीवन की समस्त व्यथा इस एक वाक्य में मुखर हो उठी है। उसकी अन्तिम प्रार्थना भी उसी के अनुकूल है—

'छीने न मातृ-पद किन्तु भरत का मुझ से।'

तीसरी माता हैं सुमित्रा। वे क्षत्राणी मां हैं जो कर्तव्य की वेदी पर स्नेह का बलिदान करने को सदैव प्रस्तुत रहती हैं। उनके मातृत्व में मोह की दुर्बलता नहीं, कर्तव्य की शक्ति है! वे लक्ष्मण को तो सहर्ष राम के साथ भेज ही देती हैं, उधर अवसर आने पर शत्रुघ्न को भी उसी ओर प्रेरित करती हैं—

'जा भैया आदर्श गए तेरे जिस पथ से।'

परन्तु फिर भी उनके हृदय में मां बैठी हुई है और आज्ञा देते-देते वह बोल उठती हैः—

'जिस विधि ने सविशेष दिया था मुझको जैसा,
लौटाती हूँ आज उसे वैसे-का-वैसा!'

मातृ-ममता उमड़ी, परन्तु

'पोंछ लिया नयनाम्बु मानिनी ने अंचल से।'

भावों की गहनता मार्मिक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गुप्तजी ने वातावरण का सृजन करने और उसको निवाहने की अपूर्व क्षमता का परिचय स्थान-स्थान पर दिया है।

मातृ-हृदय की एक अत्यन्त करुण-स्निग्ध झलक जनकपुर में उर्मिला सीता आदि की विदा के समय मिलती है। हिन्दू गृहस्थ-जीवन में यह अवसर बड़ा सकरुण होता है। पन्द्रह-सोलह वर्ष तक पाली-पोसी हुई कन्या सदा के लिए दूसरे की हो जाती है—उस पर अपने हृदय का कोई अधिकार नहीं रह

जाता । कितनी विवशता है ! इस अवसर पर वनवासी कण्व भी रो उठे थे । माताएँ—

'मत रो,' कह आप रो उठीं ।
'तुम क्यों मां यह धैर्य खो उठीं ।'
'यह मैं जननी प्रपीड़िता
पर तू है शिशु आप क्रोड़िता !
सुन, मैं यह एक दीन मां
तुझको हैं अब प्राप्त तीन मां ।'

वास्तव में यह दुःख बड़ा विचित्र होता है—और उर्मिला ठीक ही कहती है—

'प्रिय आप न जो उबार लें
हम को मातृ-वियोग मार लें ।'

मातृत्व का एक और पहलू है शुश्रत्वा जिसकी ओर अभी उर्मिला की माता ने संकेत किया है ! साकेत में सास-बहू के मधुर सम्बन्ध का भी बड़ा सुन्दर व्याख्यान है । उसका अवलोकन करने के लिए कौशल्या के मन्दिर में चलिए । देखिए सामने कौशल्या देवार्चन में लगी हुई हैं और उनके पास ही जनक-सुता खड़ी हैं, जो—

'मां क्या लाऊं कह-कह कर
पूंछ रही थीं रह-रह कर ।
कभी आरती धूप कभी,
सजती थीं सामान सभी ।

दोनों शोभित थीं ऐसी
मैना और उमा जैसी।'

इसी समय राम ने जाकर माता को प्रणाम किया और 'मां ने आशीर्वाद दिया।' इस पर—

हँस सीता कुछ सकुचाईं
आँखें तिरछी हो आईं,
उमा ने घूंघट काढ़ा।'

'बहू तनिक अक्षत रोली,
तिलक लगा दूँ,' मां बोली!

यह है सुखी परिवार का चित्र! इसमें स्वाभाविकता और सरसता के साथ आदर्श घुल-मिल गया है।

वात्सल्य और दाम्पत्य की मध्यवर्तिनी एक और भावना है जिसका प्रतिफलन देवर-भाभी के स्निग्ध सम्बन्ध में मिलता है। यह भावना हिन्दू जीवन की ही विशेषता है, अन्यत्र इसका अभाव मिलेगा। इस सम्बन्ध में एक विचित्र रस है जिसमें कुछ-कुछ सात्विक रोमांस की झलक मिलती है! साकेत के कवि को इसके चित्रण में खास कमाल हासिल है। सीता और लक्ष्मण के सम्बन्ध में यद्यपि वात्सल्य का ही आधिक्य है, परन्तु फिर भी साकेत के लक्ष्मण की दृष्टि सीता के नूपुरों से कभी उठती ही न हो, यह बात नहीं। प्रयाग-राज में गंगा-यमुना के संगम को देख कर सीता लक्ष्मण से हर्ष-गद्गद कह उठती हैं :—

'श्याम-गौर तुम एक प्राण दो देह ज्यों।'

इस पर— रामानुज ने कहा कि, 'भाभी क्यों नहीं
सरस्वती-सी प्रकट जहां तुम हो रहीं!'

तो सीता भी तुरन्त ही प्रत्युत्तर देती हैं—

'देवर मेरी सरस्वती अब है कहाँ
संगम-शोभा देख निमग्न हुई यहाँ।'

यही भावना भरत के चित्रकूट-आगमन के अवसर पर और प्रस्फुट हो जाती है। भरत को ससैन्य आता हुआ देख कर लक्ष्मण क्रुद्ध हो जाते हैं और सीता को भी बड़ा क्षोभ होता है। लक्ष्मण और राम में इस विषय को लेकर कुछ गर्म बहस होती है, पर अन्त में लक्ष्मण राम के आगे हार जाते हैं। प्रिय की सहायता करने वाला अपना उपकारी बन जाता है और उस पर स्त्रियों का ममत्व स्वभावतः कुछ अधिक हो जाता है। लक्ष्मण के गर्जन को सुन कर सीता का ममत्व उन पर और भी अधिक बढ़ गया, और जब राम के शब्दों से उनका अपना क्षोभ दूर हो गया, तो सीता के हृदय में लक्ष्मण के प्रति अमित स्नेह और गर्व की भावनाएँ जागृत हो गई! भाभी का सन्तोष एक साथ उमड़ उठा—

'अच्छा ले आए आर्यपुत्र तुम इनको
ये तुम्हें छोड़ कब कहाँ मानते किनको।'

सीता के गर्व का मनोवैज्ञानिक कारण है 'ये तुम्हें छोड़ कब कहाँ मानते किनको।' इन्हीं सीता को हम आगे चित्रकूट-प्रसंग में भरत की राम-भक्ति पर गद्गद होकर उनको आशीर्वाद

देते हुए सुनते हैं—

'निज अग्रज से भी अधिक सुयश तुम पाओ।'

इसमें अग्रज-प्रेम अग्रज से अधिक ठहरता है! ममत्व के ये अपूर्व उदाहरण हैं!

ऐसे ही नन्दि-ग्राम के दुःखश्याम वातावरण में शत्रुघ्न की सेवा-सुश्रूषा देख कर माण्डवी का क्षणिक सुख-संतोष फूट उठता है! उस विकला वधू के होठों पर क्षण भर के लिए एक मुस्कान की रेखा दौड़ जाती है। दुःख की परवशता में अपनी सेवा करने वाला, अपना साथ निवाहने वाला कितना पास आ जाता है—इसी सत्य का निर्देश माण्डवी की उक्ति में है! माण्डवी और भरत अनेक आर्त-कथाएँ कह कर अपने भाग्य की चर्चा कर रहे थे। इतने में ही शत्रुघ्न आकर भरत के सम्मुख राज-काज का ब्योरा उपस्थित करते हैं। प्रजा सुख-समृद्ध है—यह सुन कर भरत को तो संतोष होता ही है, उधर माण्डवी का हृदय भी ममता-मुग्ध होकर देवर पर साधुवाद के पुष्प बिखेरने लगता है—

'कोई तापस कोई त्यागी, कोई आज विरागी हैं।
घर सम्हालने वाले मेरे देवर ही बड़-भागी हैं।'

कहने की आवश्यकता नहीं कि इस प्रकार का विनोद दुःख की उस महानिशा में भी कभी-कभी प्रकाश विकीर्ण करता रहा होगा। कवि इसका मूल्य जानता है, तभी तो वह आगे कहता है:—

'मुसका कर तीनों ने क्षण भर पाया वर-विनोद विश्राम।'

उक्त उद्धरणों में तो वात्सल्य का ही प्राधान्य-सा है। किन्तु एकाध स्थान पर यह सम्बन्ध कुछ अधिक मधु-मधुर हो गया है! उर्मिला-शत्रुघ्न का निम्नलिखित परिहास—मर्यादा की परिधि में रहते हुए भी, खासा चटपटा हो गया है—

'लाईं' सखि मालिनें थीं डाली उस बार जब,
जम्बू-फल जीजी ने लिए थे, मुझे याद है।
मैंने थे रसाल लिए, देवर खड़े थे पास,
हँस कर बोल उठे 'निज निज स्वाद है।'
मैंने कहा 'रसिक, तुम्हारी रुचि काहे पर?'
बोले 'देवि दोनों ओर मेरा रस-वाद है।।'

यह विनोद हमें पंचवटी के देवर-भाभी-संवाद की याद दिलाता है।

साकेत में इन स्नेही जनों के पारस्परिक सरस संसर्गों के अतिरिक्त, भ्रातृ-भावना की भी मनोरम व्यञ्जना है। साकेत के राम और लक्ष्मण का भ्रातृत्व मानस के प्रसिद्ध भ्रातृत्व से भिन्न है। साकेत के लक्ष्मण राम पर उतना ही ममत्व और उतनी ही श्रद्धा रखते हैं—उनकी कष्ट-सहिष्णुता भी कम नहीं। परन्तु यहाँ उनका व्यक्तित्व मानस की अपेक्षा अधिक व्यक्त है। साकेत का लक्ष्मण चञ्चल और उद्धत छोटा भाई है जो बड़े भाई के लिए मरने-मारने तक को तैयार है, परन्तु अवसर आने पर वह राम को एकाध तीखी खुराक भी पिला देता है। अधिक निकटवर्ती होने से छोटे भाई का बड़े भाई पर विशेष अधिकार हो जाता है,

जिसके सम्मुख बड़े भाई को झुकना पड़ता है। यह स्नेहानुरोध का अधिकार है। "मेरे अनुज श्री सियारामशरण मुझे अवकाश लेने देना नहीं चाहते। वे छोटे हैं इसलिए मुझ पर उनका बड़ा अधिकार है।"—(साकेत का निवेदन) रामानुज लक्ष्मण भी राम पर अपने इसी अधिकार का प्रयोग करते हैं:—

१—'प्रतिषेध आपका भी न सुनूँगा रण में।'

२—'आशा अन्तःपुर-मध्यवासिनी कुलटा,
सीधे हैं आप परन्तु जगत है उलटा।'

भ्रातृत्व का दूसरा स्वरूप भरत में है जिसका पूर्ण चित्र हमें चित्रकूट में मिलता है। उधर यही भ्रातृ-भावना जनकपुर में सीता-उर्मिला आदि में परिपुष्ट हो कर जनकराज की गृहस्थी को मुखरित कर देती है :—

'नचती श्रुतिकीर्ति ताण्डवी, नदि, देती करताल माण्डवी,
भरती स्वर उर्मिला सजा, गढ़तीं गीत गभीर अग्रजा।
दिखला कर दृश्य हाथ से, कहतीं वे* निज मग्न नाथ से—
यह लो अब तो बनी भली, घर की यह नाट्य-मण्डली॥'

साकेत में राम की भगिनी शान्ता का भी उल्लेख है! केवल एक बार, वह भी गृहस्थ-चित्र को ही पूर्ण करने के लिए। राम-लक्ष्मण कौशिक के साथ राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने जा रहे हैं। छोटे अबोध राजकुमार आज पहिली बार ही घर

---

* माता

से विदा ले रहे हैं। घर से बच्चों की विदा-यात्रा के समय वहाँ एक विचित्र वातावरण उपस्थित हो जाता है। राम-लक्ष्मण थे वीर-पुत्र और सद्कार्य के लिए जा रहे थे। उनकी विदा का चित्र देखिए—उसमें उत्साह, उल्लास और स्नेह के पीछे करुणा भी झाँक रही है—

'कसती कटि थीं कनिष्ठ मां, असि देती मँझली घनिष्ठ मां,
कह 'क्यों न हमें किया प्रजा', पहनातीं वह ज्येष्ठ माँ स्रजा।
प्रभु ने चलते हुए कहा, 'अब शान्ते भय सोच क्या रहा,
भगिनी जय-मूर्ति-सी झुकी, यह राखी जब बाँध तू चुकी!'

बहिन का हिन्दू-संस्कृति के अनुसार हमारे परिवार में क्या स्थान है, इसकी बड़ी सुन्दर व्यञ्जना की गयी है। इसी शान्ता बहिन को लेकर, उर्मिला भी एक स्थान पर लक्ष्मण को मजाक में चुप कर देती है! वहाँ ननद-भाभी के मधुर सम्बन्ध की झाँकी है! एक दिन अशोक को देख लक्ष्मण ने उर्मिला पर कटाक्ष किया था—

'प्रिय ने कहा था 'प्रिये, पहिले ही फूला यह
भीति जो थी इसको तुम्हारे पदाघात की।'

तो उर्मिला ने भी 'सती शान्ता को सुलक्ष कर' उनको ऐसा उत्तर दिया कि बेचारे को चुप होना पड़ा :—

'भूलते हो नाथ! फूल फूलते ये कैसे, यदि
ननद न देतीं प्रीति पद-जलजात की!'

गार्हस्थ्य-जीवन का एक अङ्ग भृत्य-समाज भी है। साकेत

के राज-परिवार में सुमन्त तो परिवार-भुक्त ही हैं—उनको राम-लक्ष्मण काका कह कर पुकारते हैं—अन्य सेवक भी सुख-सम्पन्न हैं। भरत को कुसमय में भी उनका ध्यान है—'सो कुछ नहीं किन्तु भृत्यों को प्रिये कष्ट ही होगा और।' अस्तु!

उक्त विवेचन से महाकवि के गार्हस्थ्य चित्रों की अपूर्व सफलता का थोड़ा वहुत परिचय अवश्य मिल गया होगा। इसका रहस्य उन्हीं के शब्दों में है:—

'होता है कृतकृत्य सहज वहु-जन-गृही।'

वे स्वयं बहुजन-गृही हैं।

साकेत में विरह

विरह प्रेम का तप्त स्वर्ण है। वेदना की अग्नि में तप कर प्रेम की मलिनता गल जाती है और जो कुछ शेष रह जाता है वह एकान्त शुद्ध और निर्मल होता है। विरह में मिलन से अधिक गांभीर्य और स्थिरता होती है और प्रतीक्षा की अथवा अतृप्ति की उत्सुकता के कारण रसानुभूति की मात्रा अधिक रहती है! इसीलिए तो कवि-समाज में विप्रलम्भ का मान अधिक रहा है। वह प्रेम के अश्रुमय स्वरूप पर अधिक रीझा है। “And love is loveliest when enbalmed in tears.”

रवि बाबू कहते हैं कि मेरे हृदय में एक विरहिणी नारी बैठी है जो अपने दुःख का गीत सुनाया करती है। यह विरहिणी अजर-अमर है और उनके ही हृदय में नहीं, सभी कवियों की आत्मा में इसका निवास है। यही विरहिणी कालिदास के हृदय में शकुन्तला, भवभूति के हृदय में सीता, जायसी की आत्मा में नागमती, सूर के अन्तस में राधा और मीरा के प्राणों में अरूप होकर रोई थी ! मैथिलीशरण के हृदय में वही उर्मिला बन गई।

हिन्दी के प्राचीन काल में विरह के कवि प्रधानतः जायसी, सूर और मीरा हुए हैं। इनके अतिरिक्त देव, घनानन्द और ठाकुर भी वेदना के कुशल गायक थे। बिहारी आदि रीतिकालीन कवियों में विरह-निवेदन इतना नहीं है जितना उक्ति चमत्कार। इस युग में हरिऔध, मैथिलीशरण, प्रसाद, महादेवी और बच्चनके विरह-गीत आँसुओं से गीले हैं। इन कवियों में हमें तीन श्रेणियाँ स्पष्ट लक्षित हो जाती हैं—१—प्रबन्ध-काव्य-कार जिन्होंने अपना हृदय नायिका के कण्ठ में उँडेल कर उसके आश्रय से विरह-गान किया है। २—वे प्रेमी जिनका आलम्बन दिव्य है और जिन्होंने अपनी आत्मा की वियोग-पीड़ा को मुखरित किया है। ३—वे कवि जिनका विरह लौकिक आलम्बन पर स्थित व्यक्तिगत विरह है। पहिली श्रेणी में जायसी, सूर, हरिऔध और मैथिली बाबू का नाम है। दूसरी में मीरा, प्रसाद और महादेवी हैं और तीसरी श्रेणी में घनानन्द, ठाकुर आदि का नाम है। परन्तु आश्रय-आलम्बन में अन्तर होते हुए भी शुद्ध भावना के

धरातल पर पहुँच कर वे सभी एक हो जाते हैं।

उर्मिला का विरह साकेत की सब से महत्व-पूर्ण घटना है। उसकी परिस्थिति की दयनीयता उर्मिला के विरह को और भी करुण बना देती है। सीता राम के साथ प्रकाश के साथ छाया की भाँति बनी रहती हैं—माण्डवी और श्रुतिकीर्ति अपने प्रिय-पतियों से अविभक्त हैं। दुःख की परवशता उनको और निकट खींच लाई है। अतः उनके प्रेम का उपकार ही हुआ है। परन्तु उर्मिला निस्सम्बल है, उसके लिए वियोग के आदर्श के अतिरिक्त—जो विवशता का अन्तिम उपचार है—और कोई साधन नहीं है। उसकी माता ने ठीक ही कहा था—

'मिला न वन ही न गेह ही तुझको।'

वियोग का प्रारम्भ वास्तविक विच्छेद से नहीं होता—उसके लिए तो सूचना मात्र ही पर्याप्त है, और वियोग का अवसर तो वियोग से भी कहीं अधिक दारुण होता है। इसीलिए प्रवत्स्यत्पतिका का चित्र प्रोषित-पतिका के चित्र से अधिक मार्मिक होता है। प्रिय के प्रवास के समय चिंता, दुःख, मोह, काम, आशंका, निरवलम्बता और एकाकीपन का भाव न जाने क्या-क्या मन में आता है। उर्मिला आज प्रवत्स्यत्पतिका है—उर्मिला केवल उर्मिला ही ऐसी अभागिनी है। परन्तु वह ईर्ष्या से निर्मुक्त है—यह भाव उसके हृदय में उठता ही नहीं। वह सभी कुछ विवश भाव से मान लेती है और मन को समझाती भी है:—

'……………………हे मन
तू प्रिय-पथ का विघ्न न बन।'

परन्तु उसकी परिस्थिति की विषमता उसको परवश कर देती है। सीता राम को विवाद में यह कह कर परास्त कर देती हैं:— 'अथवा कुछ भी न हो वहाँ
तुम तो हो जो नहीं यहाँ!
मेरी यही महा मति है,
पति ही पत्नी की गति है।'

राम स्वीकृति दे देते हैं! परिस्थिति का यह वैषम्य (Contrast) उर्मिला की भावना को और तीव्र कर देता है—उधर इस तीव्र भाव का अप्राकृतिक संकोच एवं दमन उसे 'मुग्ध' बना देता है और वह हाय कहकर धड़ाम गिर पड़ती है! प्रवास का यह चित्र बड़ा करुण है। यहां कवि ने प्रत्यक्ष रूप से भाव प्रकाशन नहीं कराया, यहां तो परिस्थिति की गम्भीरता ही विरहिणी की व्यथा की ओर निर्देश करती है। उर्मिला को देख सभी कातर हो जाते हैं—लक्ष्मण आंख बन्द कर लेते हैं, सीता भयभीत होकर व्यजन डुलाने लगती हैं, उनको भी अपनी और उसकी स्थिति का अन्तर स्पष्ट हो जाता है और वे कह उठती हैं—

आज भाग्य जो है मेरा,
वह भी हुआ न हा तेरा!

माताएँ अचल-मूर्त्ति बन जाती हैं! राम भी व्यग्र होते हैं।

इस प्रकार कवि ने दूसरों की कातरता के द्वारा वियोगनी की

कातरता की अभिव्यक्ति की है। उक्त भावनाएँ उर्मिला की दयनीयता को स्पष्ट करती हैं। वह सब से अधिक निराधार है! परन्तु यदि वह स्वयं ही उक्त भावनाओं को शब्दों में व्यक्त करती तो वे ईर्ष्या का रूप धारण कर लेतीं। इसलिए कवि ने राम और सीता के द्वारा उनकी ओर संकेत कराया है! यह उसका कौशल है। इससे नायिका की गौरव-गरिमा की संरक्षा हुई है!

लक्ष्मण वियोग-जयी होकर चले गए, और उर्मिला एकाकी प्रेम-मयी बनकर रह गयी! नव वय में ही उसका विश्लेष हो गया। यौवन में ही यति का वेश मिल गया।

उसकी वियोग-जन्य कृशता का चित्र कवि उपस्थित करता है—

मुख-कांति पड़ी पीली-पीली,
आँखें अशान्त नीली-नीली,
क्या हाय यही वह कृश काया,
या उसकी शेष सूक्ष्म छाया!

बिहारी की

'कर के मीड़े कुसुम लौं, नीठि पिछानी जाय'

से भी उसकी अवस्था करुणतर है! सखियाँ उसको धीरज देने लगीं—"राजा ने सुमंत्र को भेजा है, राम के वियोग में एक पल वर्ष के समान गिना जाएगा, अतः वे तो आज कल में ही आ जाएँगे। इसलिए सोच करने की आवश्यकता नहीं।" यह सुन कर विरहिणी के होठों पर विषादमयी मुस्कान की रेखा दौड़ जाती है और वह कह उठती है—

'सब गया, हाय आशा न गई।

+ + + +

लौटेंगे क्या प्रभु और बहन,
उनके पीछे हा दुःख-दहन !'

'जो ज्ञाता हैं वे जान गए।' इन शब्दों में कितना विश्वास है, उस विश्वास में कितनी निराशा और उस निराशा में कितना गर्व।

उसका वियोग धीरे-धीरे बल प्राप्त करता है! और अब उसे यही दुःख है—

'यदि स्वामि-संगिनी रह न सकी,
तो क्यों इतना भी कह न सकी,
'हे नाथ साथ दो भ्राता का,
बल रहे मुझे उस त्राता का।

+ + +

वह नारि सुलभ दुर्बलता थी,
आकस्मिक वेग विकलता थी
करना न सोच मेरा इस से !'

जहाँ पारस्परिक प्रेम होता है वहाँ अपनी वियोग-व्यथा प्रेमी की वियोग-व्यथा का विचार कर और भी द्विगुणित हो जाती है! मैं तो रह ही रही हूँ, वे कैसे रहते होंगे? यह भावना प्रत्येक प्रेमी प्रेमिका के हृदय में उठती है। उर्मिला को यही सोच है—

'करना न सोच मेरा इससे।'

यह कहते-कहते उसका आदर्श और भी ऊँचा उठ जाता है और

उसके हृदय में अलौकिक संतोष का संचार होता है—उसके लिए अब इतना ही बस है—

आराध्य युग्म के सोने पर,
निस्तब्ध निशा के होने पर,
तुम याद करोगे मुझे कभी,
तो बस फिर मैं पाचुकी सभी।

सन्तोष में कितनी दीनता है!

चित्रकूट में एक बार फिर सीता के लाघव से उर्मिला और लक्ष्मण का क्षणिक मिलन होता है। स्त्री का हृदय ही स्त्री के हृदय को पहिचानता है! आजकल भी सभी परिवारों में इस प्रकार के मिलन का माध्यम स्त्रियाँ ही विशेष कर भाभियां ही किया करती हैं। सीता उर्मिला की वेदना को पहिचानती हैं, अतः वे लक्ष्मण को धोखे से, जैसा कि प्रायः स्त्रियाँ करती हैं, कुटिया में भेजती हैं। प्रवेश करते ही लक्ष्मण कोने में उर्मिला को देखते हैं जो वियोग में कृश होते-होते अब केवल उर्मिला-रेखा मात्र रह गई थी। वे क्षण भर के लिए विमूढ़-से हो जाते हैं और निश्चय नहीं कर पाते कि वह उर्मिला ही है अथवा उसकी छाया। आखिर उर्मिला ही लक्ष्मण की इस अवस्था को देखकर पुकार उठती है—

'मेरे उपवन के हरिण आज वन-चारी
मैं बांध न लूंगी तुम्हें तजो भय भारी!'

उसके उपवन का हरिण आज वनचारी हो गया है—इस

लिए कदाचित उपवन में आने से डरता है कि बाँध न लिया जाऊँ। वह विश्वास दिलाती है "नहीं—मैंने अपनी मरज़ी से ही तुम्हें छोड़ा है, मैं नहीं बाँधूँगी—डरो न !" लक्ष्मण के हृदय का तूफ़ान शब्दातीत था—अतः

गिर पड़े दौड़ सौमित्रि प्रिया-पद-तल में
वह भीग उठी प्रिय-चरण धरे दृग जल में

यह आवेश का आवेश से मिलन था। दो हृदयों के अथाह सागर आपस में मिल गये—संसार लय हो गया !—लक्ष्मण का हृदय अपराधी है, वह जानता है कि उर्मिला के साथ अन्याय हुआ है ! उधर उर्मिला की उदारता देख कर वह और लज्जित हो जाता है। लक्ष्मण अपने आप को उर्मिला से कहीं नीचा मानते हैं—और कह उठते हैं—

'वन में तनिक तपस्या करके बनने दो मुझको निज योग्य
भाभी की भगिनी तुम मेरे अर्थ नहीं केवल उपभोग्य !'

उर्मिला को बहुत कुछ कहना था—वे सभी बातें जो पहली बार नहीं कही जा सकी थीं, अब कही जा सकती थीं। परन्तु क्या उसमें इतनी शक्ति थी ? बस बेचारी—

'हा स्वामी कितना कहना था, कह न सकी कर्मों का दोष,
पर जिसमें सन्तोष तुम्हें हो, मुझे उसीमें है संतोष!

कह कर विवश हो जाती है ! इस प्रकार कवि ने विच्छेद के दोनों अवसरों पर अनुभावों से ही काम लिया है ! व्यथा ध्वनित की गयी है अभिव्यक्त नहीं ! अभिव्यक्ति तो ऐसे अवसर पर होती भी

असम्भव अथवा अप्राकृतिक है !

उर्मिला अब पूर्णतया प्रोषित-पातिका है—पूरे चौदह वर्ष के लिए, समस्त आशा और उपचार से परे !

अवधि-शिला का था उर पर गुरुभार
तिलतिल काट रही थी, दृग-जल धार।

उर्मिला के विरह-वर्णन में भी कवि के व्यक्तित्व और उसकी शैली की भाँति प्राचीन और नवीन का सम्मिश्रण है। एक ओर उसमें ताप का ऊहात्मक वर्णन है, षट्ऋतु आदि का समावेश है, तो दूसरी ओर व्यथा का संवेदनात्मक एवं मनोवैज्ञानिक व्यक्तीकरण भी।

ताप का वर्णन साकेत में कम ही हुआ है। उसमें ऊहा है परन्तु वह सम्भावना और स्वाभाविकता की मर्यादा के परे नहीं जाती—

मानस-मन्दिर में सती, पति की प्रतिमा थाप।
जलती-सी उस विरह में, बनी आरती आप॥

एकाध स्थान पर यह ताप कुछ और बढ़ जाता है, परन्तु वहाँ भी कवि का कौशल ऊहा को सँभाल लेता है—

जा मलयानिल लौट जा, यहाँ अवधि का शाप।
लगे न लू हो कर कहीं, तू अपने को आप॥

यहाँ उर्मिला अवधि के शाप की सहायता लेकर विरह-ताप की ऊहा करती है, उसका ताप ही मलयानिल को लू नहीं बनाता। इसी प्रकार—

ठहर अरी इस हृदय में, लगी विरह की आग।
ताल-वृन्त से और भी, धधक उठेगी जाग॥

में भी यही बात है।—परन्तु ऐसे उदाहरण साकेत में और नहीं मिलेंगे। उसमें तो जीवन-गत विरह-वेदना का ही प्राधान्य है।

वास्तव में उर्मिला का विरह-जीवन से बाहर की वस्तु नहीं है, उसका प्रतिफलन नित्य-प्रति के गृहस्थ-जीवन में ही हुआ है। वह न तो कुलकानि वेच कर योगिनी ही बन कर घर से निकलती है, न उसका उन्माद ही साधारण जीवन से परे कोई प्रलयंकर विधान है। वह तो राज-परिवार की वियोगिनी कुल-ललना है। उसका जीवन एक कारागार बन गया है, जिसमें वन्दिनी स्मृतियाँ छटपटा रही हैं—साथ ही नित्य-प्रति के कर्तव्य-कर्म भी सजग प्रहरियों की भाँति अड़े रहते हैं। उसको खाना है, पीना है, स्नान-सन्ध्या करना है, पालित पशु-पक्षियों की चिन्ता करनी है, दूसरों की सेवा-सुश्रूषा का भार है।—परन्तु उधर उसके सम्मुख अवधि के चौदह वर्ष हैं—जिनका एक-एक पल एक-एक वर्ष से अधिक है—ऐसे सुदीर्घ चौदह वर्ष! विरहिणी का जीवन समय की शृंखलाओं में जकड़ा हुआ है—प्रातःकाल होता है, वड़ी कठिनाई से मध्याह्न आता है, फिर सन्ध्या; और रात तो कल्प हो जाती है। समय काटने का कोई साधन नहीं;। हो तो उसका उपभोग करने की क्षमता नहीं! बस दिन भर में उसे खाना, पीना, सोना और रोना है—

खान-पान तो ठीक है, पर तदनन्तर हाय !
आवश्यक विश्राम जो उसका कौन उपाय।

सखी उसके खाने के लिए क्षीर लाई है। (अकेला प्रलाप कुछ अस्वाभाविक-सा लगता है, इसलिए कवि ने सुलक्षणा नाम की सखी की कल्पना की है—"जिसने मम यातना सही, यह पार्श्वस्थ सुलक्षणा वही।") विरह में भूख कहाँ ? सखी हठ करती है, तो उर्मिला झींक उठती है—

'लाई है क्षीर क्यों तू ? हठ मत कर यों,
मैं पियूंगी न आली।
मैं हूँ क्या कोई शिशु सफल हठी,
रंक भी राज्य-शाली ॥'

सखी नहीं मानती—आखिर उसे खाना ही पड़ता है। परन्तु बड़ी खीझ के साथ—अनिच्छा से—

'पिऊं ला, खाऊं ला, सखि पहन लूं ला, सब करूं,
जिऊं मैं जैसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो मानूं सो, किस विधि बता धीरज धरूँ,
अरी कैसे भी तो पकड़ प्रिय के वे पद मरूँ ॥'

अन्तिम पंक्ति में कितनी व्यथा है ! विरहिणी सब कुछ करने को तैयार है, क्योंकि उसे अवधि के अन्त तक जीवित रहना है—एक बार प्रियतम के पद पकड़ कर फिर चाहे वह मर जाए ! इसीलिए उसे जीवन का मोह है—

कहाँ जायँगे प्राण ये, लेकर इतना ताप,
प्रिय के फिरने पर इन्हें, फिरना होगा आप !

खाने की बात कहते-कहते उसे अपने संयोग के दिनों की याद आ जाती है जब वह लक्ष्मण को भोजन कराके अपना गृहिणी-कर्म सफल किया करती थी। आज वह समय दूर अतीत के गर्भ में विलीन हो गया। अब भी वह गृहस्थ का काम सँभालती है, परन्तु उसमें अब वह आनन्द नहीं रहा—

बनाती रसोई सभी को खिलाती,
इसी तृप्ति में आज मैं मोद पाती,
रहा किन्तु मेरे लिए एक रोना,
खिलाऊं किसे मैं अलोना सलोना ?

उसके सम्मुख सब से बड़ी समस्या है समय का काटना ! अतः वह कोई ऐसे साथी चाहती है जिनसे उसका मन बहले ! समदुःखी स्वभाव से ही आत्मीय बन जाता है—उस पर अपना अकारण ममत्व हो जाता है। इसीलिए उर्मिला सभी प्रोषित-पतिकाओं को निमंत्रण देती है—

प्रोषित पतिकाएँ हों,
जितनी भी सखि, उन्हें निमंत्रण दे आ !

परन्तु जब इतनी बड़ी पुरी में उसे कोई भी ऐसी दुःखिनी नहीं मिलती, तो वह कभी चित्र-रचना में लग जाती है, कभी शुक-सारिका से ही मन बहलाने लगती है। तोता उसे उदास देख कर कह उठता है 'हाय रूठो न रानी'। उर्मिला तोते को उड़ा देने की

आज्ञा देती है, परन्तु तुरन्त ही उसे उन पक्षियों की विवशता का ज्ञान होता है, और उसके हृदय में दया उमड़ आती है—

विहग उड़ना भी ये बद्ध हो भूल गये अये,
यदि अब इन्हें छोड़ें तो और निर्दयता दये !
परिजन इन्हें भूले, ये भी उन्हें, सब हैं बहे,
बस अब हमीं साथी-संगी, सभी इनके रहे।

उर्मिला के हृदय में उनके लिए बड़ा ममत्व है—तभी तो वे सभी उसके दुःख में दुःखी हैं। उर्मिला तोते से पूछती है—

'कह विहग कहाँ है आज आचार्य तेरे !'

तोता सदा की भाँति उत्तर देता है 'मृगया में'। उर्मिला विह्वल हो जाती है, उसकी वाणी में अतुल दैन्य का संचार हो जाता है—वह कहती है—'सचमुच मृगया में ? तो अहेरी नये वे,

यह हत हरिणी क्यों छोड़ यों ही गये वे।'

वे वास्तव में नये अहेरी हैं। यदि ऐसा न होता तो रास्ते में पड़ी हुई इस आहत हरिणी को क्यों छोड़ जाते ? आहत हरिणी से उर्मिला अपनी मैत्री स्थापित करती है। 'अहेरी नये वे' की सांकेतिक व्यञ्जना भी कितनी मधुर है, कितनी गहरी !—धीरे-धीरे सन्ध्या हो आती है और लोहित लेख लिख कर दिन डूब जाता है। फिर रात आती है, दीपक जलता है, उस पर पतंग आते हैं। वहाँ भी विरहिणी को अपनी ही व्यथा की झाँकी मिलती है—

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली,

किन्तु पतंग-भाग्य-लिपि काली—
किसका वश चलता है !

अपनी परवशता की ओर विरहिणी का संकेत मार्मिक है ! अब रात से रार रुपती है। रानी प्रिय के स्वप्न का आह्वान करती है, परन्तु नींद तो आती ही नहीं ! फिर बेचारी गूंगी निंदिया को फुसलाती है, परन्तु—

हाय न आया स्वप्न भी, और गई यह रात !
सखि उडुगण भी उड़ चले, अब क्या गिनूं प्रभात !

आगे षट्-ऋतु-परिवर्तन के साथ वियोगिनी की भावनाएँ परिवर्तित होती हैं। प्रारम्भ ग्रीष्म से होता है ! उर्मिला तपोयोगी ग्रीष्म का स्वागत करती है—इसलिए कि वह खेतों का सार है ! उसमें परहित-चिंतन की भावना सर्वत्र मिलेगी। वियोग उसे आत्मार्थी न बना कर परमार्थी बना देता है। षट्ऋतु की परम्परा प्राचीन है, परन्तु साकेत में उसका प्रयोग नवीन ढंग से हुआ है। कवि ने उसका उपयोग उद्दीपन की दृष्टि से तो अवश्य किया है, परन्तु वह उद्दीपन शारीरिक ताप का अनुमान लगाने के लिए, अथवा उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति का चमत्कार दिखाने को नहीं है। उर्मिला को तो अपना समय काटना था, अतः कवि ने, परिवर्तित ऋतुओं की प्रतिक्रिया स्वरूप जो भावनाएँ विरहिणी के हृदय में जागृत हुईं, अथवा ऋतु-परिवर्तन के साथ परिवर्तित दिनचर्या का उसके मन पर क्या प्रभाव पड़ा, यह ही सर्वत्र व्यक्त किया है।—ग्रीष्म के लगते ही समर्थ जगत

ने उसके ताप का उपचार करना प्रारम्भ कर दिया। उशीर की आड़, भूमि-गर्भ का निवास, ताल-वृन्त, स्नान, चन्द्रकांत-मणि आदि का उपयोग होने लगा! सखि ने उर्मिला के लिए भी ये ही साधन जुटाना चाहा, परन्तु उन सब से उसकी व्यथा और बढ़ती थी, अतः उनका प्रभाव उलटा ही पड़ा! सखी उसको अन्दर भूमि-गर्भ के शयनागार में ले चलना चाहती है—वहाँ शीतलता है, परन्तु विरहिणी को ऐसा प्रतीत होता है मानों उसे अन्धकार-गर्भ में ढकेला जा रहा हो। उसे वहाँ भय लगता है।

ठेल मुझे न अकेली, अन्ध अवनि-गर्भ-गेह में आली,
आज कहाँ है उसमें हिमांशु मुख की अपूर्व उजियाली!

उर्मिला राज-वधू है अतः उसके उपचार साधन सभी रईसी हैं—उसीके उपयुक्त हैं। जायसी ने नागमती के विरह में छान और बिथूनी का वर्णन किया है, और आचार्य शुक्ल ने उसकी दाद देते हुए कहा है "रानी नागमती विरह-दशा में अपना रानीपन बिल्कुल भूल जाती है, और अपने को केवल साधारण स्त्री के रूप में देखती है···।" नागमती की उक्ति की मार्मिकता असंदिग्ध होते हुए भी उसकी स्वाभाविकता अवश्य संदिग्ध है। आचार्य ने भी यहाँ मनोवैज्ञानिक भूल की है! जायसी पात्र की स्थिति को भूल गए हैं और उनका अपना व्यक्तिगत अनुभव मुखर हो उठा है। अतः उनके कथन में हृदय-स्पर्शिता अवश्य आ गयी है परन्तु फिर भी वह अस्वाभाविक रहेगा ही! साधारणीकरण का यह रूप नहीं है। दमयन्ती और सीता वन-वासिनी होकर भी ऐसा नहीं

कहतीं !—ग्रीष्म के वर्णन में कवि ने एकाध स्थान पर हेतूत्प्रेक्षा का व्यंग्य रूप में प्रयोग किया है। उर्मिला सोचती है कि ग्रीष्म का ताप लक्ष्मण के तप के कारण है इसीलिए कातर पुकार उठती है—

'मन को यों मत जीतो
बैठी है यह यहाँ मानिनी सुधि लो उसकी भी तो।'

यह अलंकार भी कितना भाव-गर्भित है !

अब वर्षा आ गयी। वर्षा में कवियों ने विरहियों की अवस्था को बड़ा करुण अंकित किया है—"वर्षालोके भवति सुखिनः···" परन्तु उर्मिला उसके उज्ज्वल पक्ष को ही लेती है। उसकी उदार भावना वर्षा में उपकार की ही वृत्ति पाती है—

बरस घटा बरसूँ मैं संग
सरसें अवनी के सब अंग
मिले मुझे भी कभी उमंग
सब के साथ सयानी !

बादलों को देख कर कभी वह स्मृति में लीन हो जाती है। उसे अपने सुख-विलास के दिन याद आते हैं—जब

'हूँ हूँ कर लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर,
बाहर से संकुचित भीतर से फूले-से।'

उधर घनालिङ्गिता तड़िता को देख कर उसे अपना घनालिङ्गन याद आ जाता है !—

शरद में खञ्जनों को देख लक्ष्मण के नयनों का आभास मिल जाता है :

निरख सखी ये खञ्जन आए,
फेरे उन मेरे रञ्जन ने नयन इधर मन-भाए।

कल्पना कुछ दूर की है, परन्तु कवि-समाज में इस प्रकार का वर्णन विरह-प्रसंग का एक मुख्य अङ्ग रहा है! इस प्रकार के सादृश्य की भावना को बड़ी दूर तक घसीटा गया है—केशव का एक पद्य लीजिए—

कल हंस कलानिध खंजन कंज कछू दिन केशव देख जिये।
गति आनन लोचन पायन के अनुरूपक से मन मानि लिये।
यहि काल कराल ते शोधि सबै हठि कै बरषा मिस दूर किये।
अब धौं बिनु प्राण-प्रिया रहिं हैं कहि कौन हितू अवलम्बि हिये।

इस दृष्टि से तो साकेत की यह उक्ति स्वाभाविकता की परिधि में ही रही है—इसके अतिरिक्त उसके शब्द-संगठन में एक विचित्र भोलापन है जिससे कथन की मार्मिकता और बढ़ गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साकेत के विरह-वर्णन की शैली अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक है। यहाँ बदलते हुए छन्दों में नित्य-प्रति के जीवन से सम्बद्ध भावनाओं की इस प्रकार व्यञ्जना हुई है कि यह प्रतीत होता है मानो कोई विरहिणी करवटें बदल-बदल कर सभी बातों को झींकती हुई, रोदन कर रही हो!

वियोग-दशा में, अथवा दुख में कहिए आत्मीयता की भावना बहुत बढ़ जाती है। सहानुभूति प्राप्त करने के लिए सहानुभूति प्रदान करना अनिवार्य है। वैसे भी दुख में हृदय

इतना कोमल हो जाता है कि जहाँ उसे तनिक भी सहानुभूति मिली वहीं उसका ममत्व उमड़ पड़ता है। उर्मिला का स्नेह आज अपने समीप रहने वाले सभी प्राणियों पर बिखर रहा है। कभी वह कोक से कहती है—

कोक शोक मत कर हे तात,
कोकि, कष्ट में हो मैं भी तो, सुन तू मेरी बात।

कभी मकड़ी पर दया दिखाती है—

'सखि न हटा मकड़ी को आई है वह सहानुभूति-वशा,
जालगता मैं भी, हम दोनों की यहाँ समान दशा!'

काव्य में मकड़ी जैसे जीवों से सहानुभूति दिखाने का यह कदाचित् पहिला अवसर है। लक्ष्मण की रानी उर्मिला की उदारता का विस्तार आज महत्तम से लेकर लघुत्तम तक है—आज महान् और लघु का अन्तर ही मिट गया है। एक ओर वह राज्य को धिक्कारती है, तो दूसरी ओर वह घूरे से अपनी तुलना करती है—

कूड़े से भी आगे,
पहुँचा अपना अदृश्य गिरते-गिरते,
दिन बारह वर्षों में,
घूरे के भी सुने गए हैं फिरते!

उर्मिला के विरह में देशकाल का भी सम्यक् आभास है। उसका अपना दुख दूसरों के दुख से निरपेक्ष नहीं है। देश में दुख की घटा छाई हुई है—धनधान्य की कमी नहीं, अब भी

गुड़-गोरस सभी प्रभूत मात्रा में है, परन्तु कृपकों को उसका स्वाद भी नहीं मालूम।

किन्तु स्वाद कैसा है न जाने इस वर्ष हाय !
यह कह रोई एक अबला किसान की।

यह देश काल का ही प्रभाव है।

यहाँ तक तो रहा विरह-जीवन का बाह्य-पक्ष, अर्थात् जीवन की परिस्थितियों का विरहिणी के जीवन पर क्या प्रभाव पड़ा—इसका विवेचन ! अब उसके आन्तरिक स्वरूप को और देख लिया जाए। संस्कृत के आचार्यों ने विरह की दस अवस्थाएँ, कामदशाएँ कही हैं। आधुनिक समीक्षक उनको देख कर चौंकते हैं—कहते हैं भावनाओं की सीमा बाँधना ? उपहास है ! वास्तव में यह ठीक भी है, परन्तु फिर भी विरह में अभिलाषा, अर्थात् प्रिय से मिलने की उत्कण्ठा, चिन्ता अथवा प्रियतम के इष्ट-अनिष्ट की चिन्ता, स्मृति या अपने प्रेम-पात्र के सत्संग में उपभुक्त सुखों का स्मरण, गुणकथन, आदि सभी स्वाभवतः होता है। इनमें तीव्रता आ जाने से उद्वेग, प्रलाप, उन्माद और व्याधि, कभी-कभी जड़ता और मरण तक हो जाता है। ये भावनाएँ चिरन्तन और सर्व-साधारण हैं, देशकाल के व्यवधान से परे हैं ! हाँ जिन सीमाओं में आचार्यों ने उन्हें जकड़ रक्खा है वे सर्वथा मान्य नहीं। भावनाएँ एक दूसरी से मिली-जुली रहती हैं और अभिलाषा यहीं समाप्त होती है—इसके आगे चिन्ता का राज्य है—अथवा प्रलाप और उन्माद की परिधि पर कोई माइल स्टोन

गढ़ा हुआ है, यह कहना अस्वाभाविक है।

प्रत्येक विरही को अपने प्रिय से मिलने की अभिलाषा होती है। वास्तव में विरह में यह सब से प्रधान भावना भी है और अन्य काम-दशाओं का जन्म इसी से होता है—अतः इसका स्थान प्रथम है। सभी विप्रलंभ के कवियों ने इसका वर्णन किया है। उर्मिला की अभिलाषा में देखिए कितना भोलापन है—

यही आती है इस मन में,
छोड़ धाम धन जाकर मैं भी रहूँ उसी वन में।

× × ×

बीच बीच में उन्हें देखलूँ मैं झुरमुट की ओट,
जब वे निकल जायँ तब लोटूँ उसी धूल में लोट।

उसका यह कथन नागमती की अभिलाषा की याद दिलाता है—

'रात दिवस बस यह जिउ मोरे,
लगौं निहोर कंत अब तोरे।'

× × ×

यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाव,
मकु तेहि मारग गिरि परै कन्त धरै जिहि पांव।

उत्कण्ठा में कितना आवेग है।

अभिलाषा की आतुरता और बढ़ती है—परन्तु सामने विरह की दीवार खड़ी है अतः वह सोचने लगती है—

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो, क्या कुछ देर लगाऊं
मैं अपने को आप मिटा कर जाकर उनको लाऊं।

उत्कण्ठा में कितना आवेग है !

उर्मिला और लक्ष्मण का प्रणय-युग्म अद्वितीय था—उनमें सुन्दरता थी, यौवन था, पास में साधन थे, सुख था—अतः उनका संयुक्त जीवन, उसका रस विलास, अपूर्व था ! आज वह सब स्वप्न हो गया। उसकी स्मृतियाँ बार-बार आकर विरह-व्यथा को प्रदीप्त कर देती हैं। इस समय की वेदना की मात्रा उस समय के सुख से द्विगुण है। उर्मिला को अपने सुखी बाल्यकाल की, प्रथम-दर्शन की, मस्त यौवन-क्रीड़ा की याद बार-बार आती है और वह उन्मत्त हो जाती है ! एक दिन की बात है—उर्मिला अलिन्द में खड़ी थी, रिमझिम बूँदें पड़ रही थीं; घटा छाई हुई थी; चारों ओर केतकी का गन्ध गमक रहा था, झिल्ली की झनकार में संगीत फूट रहा था। तभी—

'करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से
चंचला थी चमकी, घनाली घहराई थी,
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई ! मुख-लज्जा उस छाती में छिपाई थी !'

लक्ष्मण का चुपचाप कोने में खड़े होकर प्रेयसी की क्रीड़ा का आनन्द लेना—उसका चौंक कर प्रियतम को देखना, लज्जित होना, और अन्त में उनकी छाती में मुँह छिपा लेना—यह सब कितना मधुर है—कितना सत्य ! ऐसे ही सुख की बातें आज उसके मन में हलचल मचा देती हैं—लेकिन अब तो

विधि के प्रमाद से विनोद भी विषाद है।

यहाँ केवल मानसिक उद्वेग ही नहीं है—शारीरिक काम-दशा का भी संकेत है! उर्मिला नव-युवती है। उसने जीवन का शारीरिक और मानसिक सुख भोगा है-वह दोनों का मूल्य जानती है अब भी कभी उसका यौवन मचलने लगता है—तो वह उसको बड़े दुलार से समझाती है—

मेरे चपल यौवन-बाल
अचल अंचल में पड़ा रह, मचल कर मत साल

कभी कामदेव पुष्पबाण लिए उस पर आक्रमण करता है। बेचारी दीन होकर प्रार्थना करती है—

मुझे फूल मत मारो
मैं अबला बाला वियोगिनी, कुछ तो दया विचारो।

परन्तु वह फिर भी धृष्टता करता है तो सती क्रुद्ध हो जाता है और उसको आह्वान करती है—

'बल तो सिन्दूर-विन्दु यह, यह हर-नेत्र निहारो।'

धन्य है यह आत्म-विश्वास!

यही भावनाएँ तीव्र होती-होती वियोगिनी को अर्ध-मूर्छित कर देती हैं और वह अर्ध-विस्मृति की अवस्था में न जाने क्या प्रलाप करने लगती है। इस प्रकार की अर्ध विस्मृत-अवस्था में विरह-वर्णन साकेत में ही सब से प्रथम मिलता है। संस्कृत के कुछ ग्रन्थों में इसका आभास अवश्य है। उत्तर-रामचरित में राम के विलाप में इसका संकेत है, पुरूरवा का भी उन्माद कुछ ऐसा ही है। तुलसी के राम

पिता वचन परिहरतेऊ सोऊ

ऐसी दशा में कहते हैं। परन्तु उर्मिला की इस अर्ध-विस्मृति के पीछे इस युग के मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। उसमें रूढ़ि का पालन नहीं स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है! वह स्वयं चौंक पड़ती है—और फिर सखी से कहती है—'क्या क्षण-क्षण में चौंक रही मैं।'

भूल अवधि-सुधि प्रिय से कहती जगती हुई कभी 'आओ'।
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बोल कर 'जाओ'।

उसकी मनोदशा में इस समय एक प्रकार की जटिलता है। वहाँ आदर्श और कामना के बीच में संघर्ष है। आदर्श कहता है 'जाओ', भाव कहता है 'आओ'। इसी द्वन्द्व की अन्तर्धारा उसकी अर्ध-विस्मृति के मूल में बह रही है। भावावेश में वह प्रायः अनुभव करती है—

अरण्य से हैं प्रिय लौट आते,
छिपे छिपे आकर देखते सभी,
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते।

इस समय तो उसे वास्तविकता का परिज्ञान है परन्तु अनुभूति की तीव्रता कुछ समय में ही उसकी संज्ञा को भी नष्ट कर देती है और वियोगिनी तन्मय होकर कह उठती है—

सुभग आगए, कान्त आगए,

× × ×

त्वरित आरती ला उतार लूँ,
पद दृगम्बु से मैं पखार लूँ।
चरण भरे देख धूल से,
विरह-सिन्धु में प्राप्त कूल से।
उदित उर्मिला भाग्य धन्य है,
अब कृती कहाँ कौन अन्य है ?

परन्तु लक्ष्मण की मूर्ति स्थिर है—वह आगे बढ़ती ही नहीं। न सही, उर्मिला की भावनाओं का तार बढ़ता जाता है। वह कहती है—'प्रिय प्रविष्ट हो द्वार मुक्त है।' फिर भी वह मूर्ति अचल रहती है, तो उसे अपनी हीनता का ध्यान आता है। 'तुम महान हो और हीन मैं।' लेकिन क्या हुआ ?—

'तुम बड़े बने और भी बड़े
तदपि उर्मिला भाग में पड़े।'

यहाँ तक हुआ भावावेश, 'आओ' की प्रेरणा ! अब आदर्श अथवा 'जाओ' प्रेरणा का चित्र देखिए। उर्मिला लक्ष्मण को अकेला ही देख चौंक पड़ती है—

प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
वह नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे,
हम गिरे अहो तो गिरे गिरे।

× × ×

अथवा दयित क्या आर्त जान के,
घर दिया तुम्हें भेज आप ही,
यह हुआ मुझे और ताप ही।

× × ×

च्युत हुए नाथ जो यथा
धिक् वृथा हुई उर्मिला-व्यथा

परन्तु वह मूर्ति वहीं खड़ी है। उर्मिला कहती है 'जाओ'। परन्तु लक्ष्मण तो वहीं अड़े हैं। मानिनी मुँह फेर लेती है, परन्तु दूसरी ओर भी लक्ष्मण, तीसरी ओर भी लक्ष्मण, इधर भी, उधर भी, सभी कहीं लक्ष्मण दिखाई देते हैं।

जिधर पीठ दे दीठ फेरती,
उधर मैं तुम्हें ढीठ हेरती।

यह उन्माद की चरम सीमा है। उर्मिला पागल होकर सर पर हाथ मारती है—

तुम मिलो मुझे धर्म छोड़ के,
फिर मरूँ न क्यों मुण्ड फोड़ के

सखी कहती है 'यह उन्माद है, भ्राँति है।' उर्मिला होश में आती है, और जिस प्रकार निद्रा का उचट जाना दुःस्वप्न से एक साथ रक्षा करता है, उसी प्रकार उर्मिला की यह संज्ञा-प्राप्ति भी उसे दुर्भावना से मुक्त करती है। अब उसे वास्तविकता का ज्ञान होता है—और उसके साथ ही अपने कटु-वाक्यों का स्मरण। तुरन्त ही हृदय में ग्लानि का संचार हो आता है—

अधम उर्मिले, हाय निर्दया,
पतित नाथ हैं, तू सदाशया।

वियोगिनी विह्वल हो उठती है—

मर ससंशया क्यों तू न मरी

उर्मिला फिर आत्म-विस्मृत हो जाती है. परन्तु अबकी बार उसके मन में आदर्श-जन्य गौरव और प्रेम-जन्य उत्कण्ठा का संघर्ष नहीं है। इस समय तो ग्लानि और उत्कण्ठा (जो सभी दशाओं में बनी रहती है) का सम्मिश्रण है। "अवधि बीत गई लक्ष्मण आगए; परन्तु उसके वचनों से क्षुब्ध होकर लौटे जा रहे हैं।" वह अनुभव करती है मानों लक्ष्मण कह रहे हों—

'तुम अधीर हो तुच्छ ताप में,
रह सकीं नहीं आप आप में।
विदित क्या तुम्हें देवि क्या हुआ ?'

× × ×

'अधिक क्या कहूँ, रो सका न मैं,
वचन ये पुरस्कार में मिले
अहह उर्मिले, हाय उर्मिले।'

बस—

'प्रियतमे, तपोभ्रष्ट मैं भला,
मत छुओ मुझे, लो मैं चला।'

सुलक्षणा उन्हें रोकती है, परन्तु वे जाना ही चाहते हैं—

हट सुलक्षणे रोक तू न यों,
पतित मैं, मुझे टोक तू न यों।
विवश लक्'''नहीं उर्मिला हाहा !

उर्मिला की भावनाओं का तार बढ़ता ही जाता था, परन्तु 'लक्ष्मण' शब्द पर आकर उसकी अनभ्यस्त वाणी रुद्ध हो जाती

है। इस नाम का उच्चारण करने की उसको आदत नहीं है। झट उसे फिर से संज्ञा प्राप्त होती है—और वह चीख उठती है—

किधर उर्मिला, आलि, क्या कहा!

रसज्ञ पाठक इस विरह-वर्णन की अगाध गम्भीरता पर विचार करें।

उर्मिला के विरह-वर्णन में आदर्श का गौरव है और स्वार्थ का निषेध (यद्यपि व्यक्तित्व का लोप नहीं)—

मुझे भूल कर ही विभु-वन में विचरें मेरे नाथ!
मुझे न भूले उनका ध्यान!

उसका आदर्श बड़ा ऊँचा है—सती और लक्ष्मी से भी ऊँचा!

डूब बची लक्ष्मी पानी में, सती आग में पैठ,
जिए उर्मिला करे प्रतीक्षा, सहे सभी घर बैठ।

उर्मिला का यह त्याग प्रिय-प्रवास की राधा का स्मरण दिलाता है। राधा धीरे-धीरे अपने स्वार्थों पर विजय प्राप्त करती हुई, अपनी आत्मा को विश्वात्मा में मिला देती हैं—उनका अपना व्यक्तित्व विश्व में रम जाता है—उनकी उदारता यहाँ तक बढ़ जाती है—

प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें।

× ×

मेरे जी में अनुपम-महा विश्व का प्रेम जागा!
मैंने देखा परम प्रभु को स्वीय प्राणेश में है।

यह आदर्श वास्तव में बड़ा ऊंचा है—उर्मिला के आदर्श

से भी ऊंचा ! परन्तु उर्मिला का विरह सावधि था अतः सान्त था, उसमें आशा थी, इसलिए कामना का निषेध नहीं हो सका ! जहाँ तक सहन करने का प्रश्न है, वह लक्ष्मी और सती को भी पीछे छोड़ देती है, परन्तु 'गेह चाहे न आवें' उसके लिए असह्य है, अनिष्ट है ! उसे मिलना है—इसी कारण उसको अपना व्यक्तित्व (जिसका एक प्रधान अंश यौवन भी है) भूला नहीं है। लेकिन इस यौवन का मूल्य उसके अपने लिए नहीं है। वह तो प्रियतम की वस्तु है

मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल,
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

उन्हीं के लिए बेचारी ने चौदह वर्ष तक उसको सहेजने का प्रयत्न किया। आज मिलन के समय उसे पाकर विरहिणी का दीन होना स्वाभाविक ही था। अतः

प्रिय जीवन की कहाँ आज वह चढ़ती वेला

आदि वाक्य उसके मुंह से सुन कर समीक्षकों को चकित होने की आवश्यकता नहीं। यह तो अपनी हीनता का अनुभव मात्र है और शीघ्र ही लक्ष्मण के आश्वासन द्वारा शांत हो जाता है ! यहाँ उर्मिला के हृदय की स्त्री ही बोल रही है जो आज १४ वर्ष बाद प्रियतम को पाकर अपने वास्तविक रूप में उनके सम्मुख खड़ी हुई है !

उसका विश्व-प्रेम दूसरे रूप में व्यक्त होता है—उर्मिला संसार की तुच्छ से तुच्छ वस्तु में भी सद्गुण देखती है। उसे

कर्णिकार में भी त्याग की भावना दिखाई देती है। उसके विरह में ईर्ष्या का अणुमात्र भी स्पर्श नहीं है, वह दूसरों को सुखी देख कर दुःख नहीं मानती। उसके पास तो सहानुभूति का अनन्त भाण्डार है जिसका द्वार सभी के लिए खुला हुआ है!—अन्त में, उर्मिला के विरह में मानवता की पुकार है—वह अधिक स्वाभाविक है। साथ ही उसमें गरिमा (Sublimity) की न्यूनता नहीं है—वह विश्व-व्यापी है—

> लेकर मानो विश्व-विरह उस अन्तःपुर में
> समा रहे थे एक दूसरे के वे उर में।

हाँ, स्वाभाविक होने का यह अर्थ नहीं है कि उसमें प्रयत्न का सर्वथा अभाव है। उसमें उक्तियों का चमत्कार है। उसका प्लान पूर्व-निर्धारित है। कहीं-कहीं कुछ बातें अप्रासंगिक भी हैं। परन्तु क्या इस त्रुटि की पूर्ति नवम् सर्ग में बिखरे हुए काव्य-वैभव से नहीं हो जाती?

साकेत के भाव-पूर्ण स्थल

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार प्रबन्ध-काव्यकार की सब से बड़ी गौरव-कसौटी यह है कि वह काव्य के मर्मस्पर्शी स्थलों को चुनने और उनका सरस चित्रण करने में कहां तक सफल हुआ है ! जैसा कि मैंने पहिले कहा है साकेत में कथा की मूलधारा में ही परिवर्तन होने के कारण कवि को मौलिक परिस्थितियों का सृजन करना पड़ा है ! अतः उसका कर्तव्य-कर्म अत्यन्त कठिन, और साफल्य उतना ही स्तुत्य हो गया है ! साकेत के सरस स्थल हैं लक्ष्मण-उर्मिला की विनोद-वार्ता, कैकेयी-मंथरा संवाद, विदा-प्रसंग, निषाद-मिलन, दशरथ-मरण, भरत-आगमन,

चित्रकूट-सम्मिलन, उर्मिला की विरह-कथा, नन्दिग्राम में भरत और माण्डवी का वार्तालाप, हनूमान से लक्ष्मण-शक्ति का समाचार सुनकर साकेत के नागरिकों की रण-सज्जा, राम-रावण-युद्ध, और पुनर्मिलन (राम और भरत एवं उर्मिला-लक्ष्मण का)।

उक्त प्रसंगों में अधिकांश का विवेचन हम साकेत के गार्हस्थ्य-चित्रों और उसकी वस्तु-संघटना का परिचय देते हुए कर आए हैं इस निबन्ध में हमें दशरथ,मरण, भरत-आगमन, चित्रकूट-सम्मिलन, साकेत-वासियों की रण-सज्जा, युद्ध, एवं कुछ भावुक क्षणों की ओर निर्देश करना है !

दशरथ की कहानी बड़ी करुण है। वृद्धावस्था में दो पुत्रों का वियोग जिसके मूल में अन्याय और अन्त में अनिष्ट हो, उनको असह्य हो गया ! वे वचनों के पाश में जकड़ गये, उनकी आत्मा वन्दिनी होकर छटपटा रही थी । उनको स्वयं अपने कृत्य पर ग्लानि थी तभी तो लक्ष्मण के 'अरन्तुद वाक्य' भी उन्हें सुखकर प्रतीत हुए और वे कहने लगे—

मुझे वन्दी बनाकर वीरता से
करो अभिषेक-साधन धीरता से !

कितनी विषम आत्मग्लानि है ! परन्तु राम चले ही गये। राजा ने सुमन्त्र को साथ भेजा, उनको आशा थी कि कदाचित् वे लौट आवें—परन्तु सुमन्त्र ही अकेले लौटे—

कर में घोड़ों की रास लिए निज जीवन का उपहास किए
होकर मानों परतंत्र निरे, सूना रथ लिए सुमन्त्र फिरे

सभी ने उन्हें देखा, और देख कर वास्तविकता को जान लिया। फिर भी मनुष्य सत्य से डरता है—उसके प्रति आंख बन्द करके बचना चाहता है—अतः—

उत्तर में 'नहीं' सुनें न कहीं
इसलिए राम लौटे कि नहीं
यह पूछ न सके सचिव-वर से
पुरवासी मौन रहे डर से!

सिंह-द्वार पार कर कुछ ही क्षणों में सुमन्त्र राजा के सम्मुख उपस्थित हो गए। राजा पूछते हैं 'राम नहीं लौटे ?' सुमन्त्र चुप रहते हैं, उत्तर ही क्या दें ?

बोले नृप 'राम नहीं लौटे'
गूंजा सब धाम 'नहीं लौटे।'

परन्तु—

यद्यपि सुमन्त्र ने कुछ न कहा
प्रतिनाद तदपि नीरव न रहा !

उक्त प्रसंग में भावना का रंग धीरे-धीरे गाढ़ा किया गया है। 'गूँजा सब धाम नहीं लौटे।' में आकर आवेग एक साथ मुखर हो उठा है। राजा के आवेश में विस्तार आ गया है। दशरथ की ग्लानि फिर उमड़ उठती है। उसका उद्गार मार्मिक है—

गृह-योग्य बने हैं वनस्पृही,
वन-योग्य हाय हम बने गृही!

विधाता का व्यतिक्रम अद्‌भुत है। एक बार फिर उन्हें वरदान का प्रसंग याद आ जाता है और वे कैकेयी के लिए

कहते हैं— कोई उससे जा कहे अभी,
वे तेरे कण्टक टले सभी ।

भूपति को जीवन भार हो गया, और—

हे जीव चलो अब दिन बीते,
हा राम, राम लक्ष्मण सीते ।

कह कर दीप-निर्वाण हो जाता है । अयोध्या में शोक का पारावार उमड़ उठता है । कौशल्या, सुमित्रा, सुमन्त्र आदि तो रोये ही, कैकेयी की अवस्था भी विचित्र हो गई—

रोना उसको उपहास हुआ,
निज कृत वैधव्य-विकास हुआ,
तब वह अपने से आप डरी ।

यही शोक की अन्तिम अवस्था है—

ऊपर सुरांगनाएँ रोईं,
भू पर पुरांगनाएँ रोईं ।

बस, भूपति-पद का विच्छेद हो गया । “The King is dead” तो सत्य हो गया, किन्तु “Long live the King” किससे कहें । राष्ट्र अनाथ हो गया !

भरत-आगमन का प्रसङ्ग और भी अधिक मार्मिक है । भरत और शत्रुघ्न दोनों साकेत को लौट रहे हैं । दोनों की मुद्रा गंभीर और उदास है—कदाचित शीघ्र यात्रा के कारण—

या कि विधु में ज्यों मही की म्लानि,
दूर भी विम्बित हुई गृह-ग्लानि ।

सचमुच ही भरत के हृदय पर एक छाया-सी पड़ती जाती है और उन्हें—

जान पड़ता है न जाकर आप,
मैं खिंचा जाता खिंचे ज्यों चाप।

यह अवस्था मन की उदासी की ओर संकेत करती है! आगे बढ़ते ही अयोध्या के क्रीड़ा-क्षेत्र दृष्टि-गत होते हैं, और भरत की आँखों के सामने अपने किशोर वय के दृश्य नाचने लगते हैं—

हँस मुझे लख हाथ से कुछ ठेल,
हय उड़ा कर, उछल आप समक्ष,
प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वज-लक्ष।

परन्तु आज तो कुछ रंग ही निराला है—

दीख पड़ते हैं न सादी आज, गज न लाते हैं निषादी आज।
फिर रही गायें रँभाती दूर, भागते हैं श्लथ-शिखण्ड मयूर।
पार्श्व से यह खिसकती-सी आप, जा रही सरयू वही चुपचाप॥

इस प्रकार भरत की ग्लानि को अंकित करने के लिए जिस वातारण की सृष्टि की गई है, वह बड़ा उपयुक्त और व्यञ्जना-पूर्ण है। प्रत्येक वस्तु में आज निर्जीवता है, इसका संकेत कवि सरयू की अवस्था के द्वारा देता है जो पास ही में चुपचाप खिसकती चली जा रही है। मानस के भरत को भी इस अवसर पर इसी प्रकार की श्री-हीनता दिखाई दी थी—

श्रीहत सर, सरिता, बन, बागा। नगरु विसेखि भयावनु लागा॥

शत्रुघ्न का विचार-प्रवाह दूसरी ओर ही था—

घर पहुँच कर कल्पना के साथ,
हो रहे (थे वे) सहर्ष सनाथ।
पूछते थे कुशल मानों तात,
प्रेम-पूर्वक भेंटते थे भ्रात॥
बढ़ रहा था जननियों का मोद,
हँस रही थीं भाभियाँ सविनोद।
हो रहा था हर्ष, उत्सव, गान,
और सब का संग भोजन-पान॥

शत्रुघ्न की यह सुख-संकुल विचारधारा आगामी विषाद के रंग को वैषम्य (Contrast) द्वारा गाढ़ा करती है। आशा जितनी बलवती और व्यापक होती है, उसके विफल होने पर, निराशा भी उतनी ही भयंकर और दुस्सह होती है। यहाँ भी ठीक ऐसा ही होता है, और शत्रुघ्न कह उठते हैं—

पर निरख अब दृश्य ये विपरीत,
हो उठा हूँ आर्य मैं भयभीत।
जान पड़ता है पिता सविशेष,
रुग्ण हो कर पा रहे हैं क्लेश॥

"Coming events cast their shadows before" अर्थात् भावी घटनाओं की प्रतिच्छाया पहिले ही दृष्टिगत हो जाती है। शत्रुघ्न के सन्देह में यही रहस्य है—किन्तु भरत का संशय और भी आगे जाता है—

स्यात् ही हाँ तात हे भगवान,
भरत सिहरे शफ़र-वारि समान ॥

दोनों भाई इन्हीं विचारों में मग्न थे कि साकेत-नगरी आ पहुँचती है। उसकी दशा भी विचित्र है। वहाँ सर्वत्र निस्तब्धता और शान्ति का राज्य है। पुरद्वार पर प्रहरी स्तब्ध खड़े हैं। उनकी मुद्रा गंभीर विषाद से आक्रान्त है। उनकी अजीब हालत देख कर भरत की कुछ पूछने की हिम्मत ही नहीं होती—

प्रहरियों का मौन विनयाचार,
देख कर उनका गभीर विषाद,
भरत पूछ सकें न कुछ संवाद।

मानस में भी भरत का स्वागत कुछ ऐसा ही हुआ था—

पुरजन मिलहिं न कहहिं कछु, गवहिं जुहारहिं जाहिं।
भरत कुसल पूछि न सकहिं, भय बिषादु मन माहिं ॥

खैर भरत आगे बढ़ते हैं—उनको देख कर पौरजन स्थान-स्थान पर एकत्र हो जाते हैं, और भरत पर आक्षेप करना चाहते हैं। परन्तु जब वे देखते हैं कि भरत निर्लेप हैं, तो उनका विद्रोह क्षण में विलीन हो जाता है।

झिमिट आते हैं जहाँ जो लोग, प्रकट कर कोई अकथ अभियोग,
मौन रहते हैं खड़े बेचैन, सिर झुका कर फिर उठाते हैं न!

× × × ×

चाहते थे जन करें आक्षेप, दीखते थे पर भरत निर्लेप।
देख उनका [illegible] जाते थे सभी विद्रोह !!

भरत के पहुँचते ही—

आगए सहसा उठा यह नाद !
बढ़ गया अवरोध तक संवाद !

इस 'आगए' में फिर कुछ विद्रोह का स्वर सुनाई देता है। दोनों भाई सिद्धार्थ का हाथ पकड़ कर, शीघ्र ही उतर पड़ते हैं। सिद्धार्थ की मुद्रा देख कर भरत का संदेह और भी दृढ़ हो जाता है और वे पूछ उठते हैं—

हो गए तुम जीर्ण ऐसे तात !
मैं सुनूंगा क्या भयानक बात !

अब शुद्धान्त का द्वार आ गया और देहली के पार एक पग रखते ही,

हा पिता सहसा चिहुंक चीत्कार,
गिर पड़े सुकुमार भरत कुमार !

इतने ही में कैकेयी मंथरा के साथ आकर उन पर हाथ फेरने लगती है और थोड़ी देर में ही पिता की मृत्यु और राम के वन-गमन की सूचना उन्हें मिल जाती है ! माता के मुख से यह सुन कर कि—

वन गए वे अनुज सीता-युक्त।

भरत चौंक पड़ते हैं—

तो सम्हालेगा हमें अब कौन ?

भरत का सरल हृदय स्वभावतः यही सोचता है कि राम शोक-विमूढ़ हो कर विरक्त हो गए, और वे कह उठते हैं—

राम का औदास्य यह अवलोक
सहम-सा मेरा गया पितृ-शोक।

महाकवि की दृष्टि मानव-मनोदशा के गहन स्तरों में बड़ी दूर तक पहुँचती है—उसमें उतनी ही सूक्ष्म-ग्राहकता है जितना विस्तार। उधर तुरन्त ही भरत की दृष्टि मंथरा पर पड़ती है जो खड़ी-खड़ी हँस रही थी। भरत अधीर हो उठे और बोले—

भेद है इसमें निहित कुछ गूढ़
मा कहो, मैं हो रहा हूँ मूढ़।

कैकेयी भी हृदय की समस्त संकुल भाव-राशि को दबा कर एक साथ निराशा-निर्भय हो कर, स्पष्टतया अपने कृत्य को स्वीकार कर लेती है। भरत हतबोध हो जाते हैं, शत्रुघ्न होठों को चबाते हुए पैर पटकने लगते हैं, परन्तु वैर किस से लें? इसी समय कैकेयी का वात्सल्य पागल हो कर भरत की ओर दौड़ता है। भरत पहिले तो क्रोधाभिभूत हो कर माता से कटु वाक्य कहते हैं (जो हमारी सम्मति में उनके चरित्र-गौरव के अनुकूल नहीं) परन्तु शीघ्र ही उनका स्वभाव-गत सत् उस क्षणिक तमस् पर विजय प्राप्त कर लेता है और क्रोध ग्लानि में परिणत हो जाता है! इस समय के उनके उद्गार मर्म-भेदी हैं क्योंकि उनकी ग्लानि गहरी थी। कैकेयी जब मातृत्व की दुहाई देती है तो भरत कहते हैं—

सब बचाती हैं सुतों के गात्र, किन्तु देती हैं डिठौना मात्र,
नील से मुंह पोत मेरा सर्व, कर रही वात्सल्य का तू गर्व।

भरत का आवेश और बढ़ता है और वे फूट उठते हैं—

खर मँगा वाहन वही अनुरूप,
देखलें सब है यही वह भूप।
आज मैं हूँ कौसलाधिप धन्य,
गा विरुद गा, कौन मुझसा अन्य।

उक्त उद्‌गार मनन करने योग्य हैं। ग्लानि का जन्म अपनी बुराई के अनुभव से होता है; यह अनुभव जितना ही गहन और तीव्रतर होता जाएगा, ग्लानि की मात्रा भी उतनी ही बढ़ती जाएगी। जब अपना अस्तित्व अपने को ही असह्य हो जाए, तब ग्लानि की चरमावस्था समझनी चाहिए। दशरथ की मृत्यु के समय कैकेयी अपने से ही डरने लगी थी। भरत की उक्तियों में यही सत्य निहित है। उनके वचनों की वक्रता (irony) भाव को और भी तीव्र कर देती है—

गा विरुद गा, कौन मुझसा अन्य

अन्त में ग्लान के उद्‌गारों और कटूक्तियों से भी भरत को संतोष नहीं होता। वह तड़प जाता है, विवश हो जाता है—करे ही क्या? अतः

रो दिया हो मौन राजकुमार

आवेश की अंतिम परिणति आँसू ही है। भरत की मनोदशा का यह चित्र 'मानस' के चित्र का प्रतिद्वन्दी है। इसका व्याख्यान करने के लिए आचार्य शुक्ल की लेखनी अपेक्षित है। हमारी वाणी असमर्थ है।

इसके उपरान्त-चित्रकूट-मिलन है। राम-कथा में इस प्रसंग का बड़ा महात्म्य है। तुलसी ने इस 'भायप-मिलन' को अमर कर दिया है। साकेत में भी इस प्रसंग का महत्व उर्मिला-विषयक कुछ स्थलों को छोड़, और सब से अधिक है। साकेत की दो अन्यतम विभूतियाँ हैं ही उर्मिला और कैकेयी।

चित्रकूट में हमें सबसे पहिले वनवासी सीता की मधुर झाँकी मिलती है। वे पर्ण-कुटी के विरछे सींच रही हैं और राम उन सीता को, अपनी मूर्तिमती माया को—देखते हुए ऐसा अनुभव कर रहे हैं मानों योगी के सम्मुख अटल ज्योति जग रही हो। कवि सीता की छवि का अंकन करने की इच्छा से आगे बढ़ता है, परन्तु उसकी भक्ति उसके सम्मुख व्यवधान खड़ा कर देती है। इसीलिए वह एक ओर राम के स्वगत भावों का सहारा और दूसरी ओर सीता के मातृत्व की शरण लेकर चित्र रचना प्रारम्भ करता है—

पाकर विशाल कच-भार एड़ियाँ धँसती,
तब नख-ज्योति मिस मृदुल अँगुलियाँ हँसतीं।
पर पग उठने पर भार उन्हीं पर पड़ता,
तब अरुण एड़ियों से सुहास्य-सा झड़ता।

उपरोक्त शृङ्गार-वर्णन में आदर्शवादी कवि की दृष्टि चरणों पर ही गड़ी रहती है। वहीं पर उसने सौन्दर्य का प्रतिफलन किया है। उसका यह चित्र अत्यन्त रूप-रञ्जित और प्रसन्न है!

वनवासी दम्पति चित्रकूट पर बैठे हुए अपने सुख में मग्न

थे। इतने में वन अस्फुट कोलाहल से आपूर्ण हो गया। लक्ष्मण ने आकर भरत-आगमन की सूचना दी और एक साँस में राम को अपना निश्चय सुना दिया! सीता को भी शंका हुई। परन्तु राम ने उन्हें समझाया 'भद्रे न भरत भी उसे (राज्य को) छोड़ आये हों'। बड़ी कठिनता से लक्ष्मण शांत हुए।

इतने में ही—

वह देखो वन के अन्तराल से निकले
मानो दो तारे क्षितिज-जाल से निकले।

राम और भरत का चित्रकूट-मिलन प्रेम और आवेग का मिलन है। भरत आकर राम के चरणों पर दण्डवत् गिरकर रोने लगते हैं। वे कुछ बोलते नहीं, उनके हृदय में भावों का तूफ़ान उठ रहा था, इसलिए कहते भी क्या? "When the heart is full the tongue is mute." राम उन्हें खींचकर हृदय से लगा लेते हैं—

रोकर रज में लोटो न भरत से भाई।

भरत का आवेश बन्धन तोड़ देता है—

हा आर्य, भरत का भाग्य रजोमय ही है।

और वे राम को उलाहना देते हुए कहते हैं

उस जड़ जननी का विकृत वचन तो पाला
तुम ने इस जन की ओर न देखा भाला।

राम भरत के इस स्नेह उपालम्भ का उत्तर ही क्या दें? वे निरुत्तर हो जाते हैं! रात को चित्रकूट सभा जुड़ी। राम ने प्रश्न किया:—

'हे भरत भद्र, अब कहो अभीप्सित अपना'! प्रश्न भरत के हृदय में बाण सदृश लगता है। उनकी ग्लानि एक बार फिर उमड़ उठती है, और वे व्यञ्जना की सहायता से उसको प्रकट करने लगते हैं—

> हे आर्य रहा क्या भरत-अभीप्सित अब भी,
> मिल गया अकण्टक राज्य उसे जब, तब भी।
> पाया तुमने तरु-तले अरण्य-बसेरा।
> रह गया अभीप्सित शेष तदपि क्या मेरा।
> तनु तड़प तड़प कर तप्त तात ने त्यागा
> क्या रहा अभीप्सित और तथापि अभागा!
> अब कौन अभीप्सित और आर्य वह किसका,
> संसार नष्ट है भ्रष्ट हुआ घर जिसका।
> मुझ से मैंने ही स्वयं आज मुख फेरा,
> हे आर्य बता दो तुम्हीं अभीप्सित मेरा।

रसज्ञ पाठक विचार करें यहाँ ग्लानि, करुणा, स्नेह, दैन्य, और आवेश का सम्मिलित प्रवाह बह रहा है। भरत की परिस्थिति बड़ी दयनीय है। उनका हृदय कचोट खा कर तड़प उठता है, ग्लानि का दंशन उनको बेचैन कर देता है। कवि भरत के अन्तर में अपने अन्तर को डाल कर एकाकार हो गया है। ऐसे भाव-प्रवण चित्रों के अंकन में सब से बड़ी आवश्यकता है वातावरण के सृजन की। कवि ने यह कार्य अद्भुत कौशल के साथ किया है। भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ लेते हैं और उसकी पुनरा-

वृत्ति उनके भावावेश को तरल बना देती है। ऐसा प्रतीत होता है मानों भरत अभीप्सित शब्द को पकड़ कर आवेग के आवर्त में चक्कर लगा रहे हों, और वह डूबता उतराता हुआ उनकी शक्ति को विफल कर रहा हो। अन्त में, 'हे आर्य बतादो, तुम्हीं अभीप्सित मेरा मेरा।' कह कर वे विवश हो प्रवाह में वह जाते हैं। इस समय राम ही उन्हें उबारते हैं। उनका एक वाक्य इसके लिए काफ़ी होता है—

उसके आशय की थाह मिलेगी किसको,
जन कर जननी भी जान न पाई जिसको।

राम के ये शब्द भरत ही को नहीं कैकेयी को भी अवलम्ब प्रदान करते हैं, और उसे भी उनके आश्रय से अपना आशय प्रकट करने का अवसर मिल जाता है। वह एक साथ पुकार उठती है—'यह सच है तो अब लौट चलो तुम घर को।' ये शब्द सभी को चकित कर देते हैं। रानी की इस समय क्या दशा थी? कवि की सवाक् तूलिका ने उसकी भाव-भंगी और श्रोताओं के विस्मय का बड़ा ही सजीव चित्र अंकित किया है—

सब ने रानी की ओर अचानक देखा,
वैधव्य-तुषारावृता यथा विधु-लेखा।
बैठी थी अचल तथापि असंख्य-तरंगा,
वह सिंही अब थी हहा गोमुखी गंगा॥

अब वह अपना अनुरोध आरम्भ करती है—

हाँ जन कर भी मैंने न भरत को जाना,
सब सुन लें, तुम ने स्वयं अभी यह माना।

और अगर—

यह सच है तो अब लौट चलो घर भैया,
अपराधिनि मैं हूँ तात तुम्हारी मैया।'

रानी के शब्दों में यहाँ भी दैन्य नहीं है। यहाँ भी वह मातृत्व का गर्व करती है। उसकी युक्ति भी प्रबल है। 'यदि यह सत्य है कि मैं भरत को नहीं जान सकी, तो मेरा अपराध अज्ञान-जन्य है—विना जाने किया हुआ है। इसके अतिरिक्त मैं तुम्हारी माता हूँ, माता का अपराध तो वैसे भी किसी अंश तक क्षम्य होता है। उसका न्याय-विचार पक्षपात-पूर्ण होना ही चाहिये।' उसके भावों का प्रवाह अस्थिर हो उठा है, और वह आगे बढ़ती है—

दुर्बलता का ही चिन्ह-विशेष-शपथ है,
पर अबला-जन के लिए कौन सा पथ है।
यदि मैं उकसाई गई भरत से होऊँ,
तो पति-समान ही आज पुत्र भी खोऊँ॥

आवेश यहाँ अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच गया है! रानी की शपथ में निराशा की आग है। कैकेयी की सब से बड़ी विभूति और उसकी सब से बड़ी दुर्बलता भी, है उसका मातृत्व! उसके लिए 'तो पति, समान ही आज पुत्र भी खोऊँ' कहना गहनतम मानसिक व्यथा का परिचायक है। माता सब कुछ सह

सकती है, परन्तु पुत्र की मृत्यु की चर्चा उसके लिए असह्य है। मातृत्व की अन्तिम परीक्षा आज भी यही है। साधारण माता भी इस परीक्षा से बचने का प्रयत्न करती है। कैकेयी उन्मत्त हो रही है, वह कहती ही जाती है—'ठहरो मत रोको मुझे कहूँ सो सुन लो।' उसका आवेश अवस्था, बुद्धि, धैर्य्य, मर्यादा सभी को लांघ कर वह निकला है। उक्त शपथ वह जान बूझ कर खाती है। इसके दो कारण हैं-(१) भरत के चरित्र-गौरव की रक्षा, (२) अपने हृदय को दण्ड देने का विचार। एक ओर वह भरत की कलंक-कालिमा को धो डालने के लिए व्यग्र है तो दूसरी ओर उसे अपने पहाड़-से पाप का पूर्ण अभिज्ञान है—वह उसी के लिए अनुताप करना चाहती है।···सभा में नीरवता छाई हुई है। 'रात्रि अन्धकार-गहन और निस्तब्ध है, शशि और नक्षत्र ओस टपका रहे हैं। उस निस्तब्धता में रानी 'उल्का के समान सभा को दीप्त करती हुई सभी में भय, विस्मय और खेद भर रही है।' चित्र बोल उठा है। यहाँ कवि ने बाह्य वातावरण के साथ सभा की मनोदशा को तादात्म्य दिखला कर भावों की गति को और भी तीव्र कर दिया है। गहरे काले अंधेरे में उन्मादिनी रानी उल्का के समान चमक रही है, उधर उसके ज्वलन्त शब्द सभा के हृदय में घनी-भूत अन्धकार को चीरते हुए, भय और विस्मय का संचार कर रहे हैं। भावों की गहनता और परिस्थिति की गंभीरता द्विगुण हो जाती है।

रानी फिर अपना वक्तव्य प्रारम्भ करती है; वह किसी को

दोष नहीं देती, न भाग्य को, न देवताओं को, और मन्थरा को भी नहीं। वह तो स्पष्ट सभी अपराध अपने ऊपर लेती है 'मेरा ही मन रह सका न निज विश्वासी।' इसीलिए वह उसे जलाना चाहती है। उसी के अन्दर तो वे ज्वलित भाव जागे थे। एक बार पुनः उसका मातृत्व उभर आता है और वह सोचने लगती है 'क्या मूल्य नहीं वात्सल्य-मात्र कुछ तेरा' किन्तु—शीघ्र ही मन में यह विचार आता है 'पर आज अन्य-सा हुआ वत्स भी मेरा।' बस माता का हृदय निराश्रित हो जाता है और राम की दुहाई करने लगता है।

भावों का यह तारतम्य फिर उसकी ग्लानि को उभार देता है। उसने आज मातृत्व को भी तो लाञ्छित कर दिया—कितनी विषमता है—

कहते आते थे यही अभी नर-देही,
माता न कुमाता पुत्र कुपुत्र भले ही।
अब कहें सभी यह, हाय, विरुद्ध विधाता,
है पुत्र पुत्र ही, रहे कुमाता माता।

वह अपने से घृणा करने लगती है! अपने वंश और अपनी करतूत की तुलना का भाव मन में आता है, और उसके साथ ही अपने कलुषित भविष्य का! परन्तु वह उसे सहने को तैयार है, उसके अपराध की कालिमा इसी प्रकार धुल सकेगी! वह जानती है और चाहती भी है—

युग-युग तक चलती रहे कठोर कहानी,
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी।
निज जन्म-जन्म में सुने जीव यह मेरा,
'धिक्कार उसे था महापाप ने घेरा।

बस हद हो गई, कैकेयी की व्यथा राम को असह्य हो जाती है, और वे उसी प्रवाह में बहते हुए माता का गुणगान कर निकलते हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई,
जिस जननी ने है जना भरत सा भाई

सभा भी इस वेग में स्थिर न रह सकी—और

पागल-सी प्रभु के साथ सभा चिल्लाई,
सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।

ये पंक्तियाँ साधारण प्रतीत होती हैं; परन्तु वास्तव में इनसे पता चलता है कि कवि में मानव-हृदय के रहस्यों में प्रवेश करने की अतुल क्षमता है। इस समय रानी की परिवेदना और ग्लानि चरमावस्था को पहुँच चुकी थी। उसका परितोष करना साधारणतया असम्भव-सा था। परन्तु राम उसकी दुर्बलता को जानते हैं, अतः इधर उधर मरहम पट्टी न करके ठीक उसके घाव का ही उपचार करते हैं। इसीलिए उनके शब्दों में उसके मातृत्व को फिर से उद्दीप्त करने की सफल चेष्टा है। मैं समझता हूँ उस परिस्थिति में कैकेयी को इन शब्दों से बढ़ कर और किसी बात से शान्ति नहीं मिल सकती थी।—इनका प्रभाव अनिवार्य

था । तत्काल ही वह चाहे न प्रकट हुआ हो, परन्तु हम देखते हैं कि अनेकों सकरुण उद्गीतियों के अनन्तर रानी कह ही उठती है—

मैं रहूँ पंकिला पद्म-कोष है मेरा ।

आगे उसकी दयनीयता क्षण भर के लिए उसे परवश कर देती है, और उसके मुँह से निकल जाता है—

मेरा विचार कुछ दयापूर्ण हो तब भी ।

परन्तु तुरन्त ही उसका स्वाभिमान प्रबुद्ध हो जाता है—

'हा, दया, हन्त वह घृणा ! अहह वह करुणा !'

'सह सकती हूँ चिर नरक सुनें, सुविचारी,
पर मुझे स्वर्ग की दया दण्ड से भारी ।'

अंत में रानी की युक्तियाँ हैं जिन में भाव और तर्क का अद्भुत म्मिश्रण है। उनके तर्क में भावुकता की पुकार है और वुकता में तर्क का प्रभाव। वे सभी साकेत की भावराशि अद्भुत उदाहरण हैं—

१—मैंने *इसके ही लिए तुम्हें वन भेजा,
घर चलो इसी के लिए न रूठो अब यों।
२—मुझको यह प्यारा और इसे तुम प्यारे,
मेरे दुगुने प्रिय रहो न मुझ से न्यारे।
मैं इसे न जानूँ किन्तु जानते हो तुम।
३—छल किया भाग्य ने मुझे अयश देने का,
बल दिया उसी ने भूल मान लेने का।

---

*भरत के

अब कटे सभी वे पाश नाश के प्रेरे,
मैं वही कैकयी वही राम तुम मेरे।
४—क्या स्वाभिमान रखती न कैकयी रानी;
मैं सहज मानिनी रही वही क्षत्राणी,
इस कारण सीखी नहीं दैन्य यह वाणी।
पर महा दीन हो गया आज मन मेरा'
भावज्ञ, सहेजो तुम्हीं भाव-धन मेरा।
५—हो तुम्हीं भरत के राज्य, स्वराज्य सम्हालो
मैं पाल सकी न स्वधर्म उसे तुम पालो।

ये सभी युक्तियाँ प्रबल हैं—परन्तु उसके पास इन सभी से प्रबलतर एक और युक्ति है—वह कहती है—

आगत ज्ञानी-जन उच्च भाल ले लेकर
समझावें तुम को अतुल युक्तियाँ देकर
मेरे तो एक अधीर हृदय है बेटा!
उसने फिर तुमको आज भुजा भर भेटा!

कहने की आवश्यकता नहीं इस अचूक युक्ति के सम्मुख एक बार राम भी विचलित हो उठे होंगे।

चित्रकूट में दुःख और सुख के मिश्रित आवेग का एक सागर उमड़ उठा है जिसमें कैकेयी का कलंक कच्चे रंग के समान बह गया है। वास्तव में साकेत के इस प्रसंग का गौरव अक्षम्य है। कवि की भावुकता की सूक्ष्म-ग्राहिणी शक्ति, प्रवणता, उसका विस्तृत अधिकार और प्रवाह अद्भुत है। उसकी मल-प्रेरणा है

उपेक्षित—घृणित के प्रति सहानुभूति जिसका उद्भव महान आत्माओं में ही सम्भव है। साथ ही यहाँ हमें मानव-मनोदशा का गम्भीर अध्ययन, उसके पल-पल-परिवर्तित संकल्प विकल्पों की सूक्ष्म पकड़ मिलती है, और मिलती है मौलिक सृजन-क्षमता। कैकेयी का चरित्र उज्जवल हो गया है। वह अब 'कुटिल कैकेई' नहीं रही! वह आज शुभ्रवसना धौत-केशिनी माता है जिसका वात्सल्य अनुकरणीय है।

साकेत-वासियों की रण-सज्जा का वर्णन भी भावों की दृष्टि से बड़ा सशक्त और सवेग है! वह भी कवि की मौलिक प्रसूति है! वास्तव में जैसा कि मैं पहिले निवेदन कर चुका हूँ, कवि को यह असह्य हो उठा कि राम पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़े—सीता को नीच कौणप चुरा ले जाए, लक्ष्मण शक्ति-आहत होकर म्रियमाण हो जाएँ और उनके प्राण-प्रिय भाई एवं उनकी 'प्रकृति' प्रजाजन निष्क्रिय और निश्चिन्त बैठे रहें। उसके सम्मुख वह संस्कृति की मर्यादा का प्रश्न बन गया है। सीता के सम्मान पर आक्रमण देश की संस्कृति पर आक्रमण था। अतः इस स्थल पर कवि का राष्ट्रीय उत्साह मुखर हो उठा है।

हनूमान के चले जाने पर भरत और शत्रुघ्न कुछ देर के लिए मति-मूढ़ हो गए! परन्तु निराशा के अन्तिम स्पर्श में अग्नि होती है। भरत का दुःख-दैन्य इस बार एक साथ जल उठा! उसके हृदय में उत्साह की विद्युत् चमक उठी और वह कहने लगा:—

'भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
सिन्धु-पार वह विलख रही है व्याकुल मन में।
बैठा हूँ मैं भण्ड साधुता धारण करके,
अपने मिथ्या भरत नाम को नाम न धर के!'

× × ×

'अनुज मुझे रिपु-रक्त चाहिए डूब मरूँ मैं!
मेंटू अपने जड़ी-भूत जीवन की लज्जा,
उठो इसी क्षण शूर करो सेना की सज्जा!'

आज 'जड़ भरत' का उत्साह देर नहीं सह सकता। वह आतुर है, अधीर है। उसे किसी की बात सुनने का भी अवकाश नहीं है। सेना के लिए भी वह नहीं रुक सकता।

'पीछे आता रहे राज-मण्डल दल बल से!

× × ×

सजे अभी साकेत, बजे हां जय का डंका
रह न जाय अब कहीं किसी रावण की लंका।'

× × ×

'माताओं से विदा मांग मेरी भी लेना!'

ग्लानि-प्रेरित उत्साह का कितना भव्य चित्र है! उत्साह की सजीवता के ऐसे गतिमय चित्र हिन्दी में अनेक नहीं मिलेंगे। भरत के भाव और उनके साथ उसके शब्द दौड़े चले जा रहे हैं। उनमें बिजली की गति है! उनका वेग अप्रतिहत है!

उधर अंतःपुर में यह वृत्तान्त पहिले ही घूम गया। सुमित्रा और कैकेयी का क्षत्रियत्व भड़क उठा! उनका उत्साह अपूर्व

है। इधर उर्मिला के अन्तर की वीर-वधू भी जागृत हो गई। वह कातर नहीं है। उसको लक्ष्मण की कुशल का निश्चय है—'जीते हैं वे वहाँ, यहाँ जब मैं जीती हूँ'! सीता के लिए भी उसे सोच नहीं है। वे तो लंका के लिए बिजली के समान हैं—

नीरव विद्युल्लता आज लंका पर टूटी।

यह सब कुछ तो अन्तःपुर तक ही सीमित था। अभी तक नगरी तो क्षणदा-छाया में निस्तब्ध ही पड़ी हुई थी। बस, शत्रुघ्न ने ध्वनि-संकेत करते हुए शंख फूँक दिया। उधर भरत के शंख-नाद ने उसका प्रत्युत्तर दिया! अब शंख-ध्वनियाँ असंख्य हो गईं—और

'वनन घनन बज उठी, गरज तत्क्षण रण-भेरी!
काँप उठा आकाश, चौंक कर जगती जागी,
छिपी क्षितिज में कहीं, सभय निद्रा उठ भागी!
उठी क्षुब्ध-सी अहा अयोध्या की नर-सत्ता,
सजग हुआ साकेत पुरी का पत्ता पत्ता!—

सोते हुए वीर चौंक कर जगने लगे। क्षण भर में उनके भावों की गति बदल गई—

प्रिया-कण्ठ से छूट सुभट कर शस्त्रों पर थे
त्रस्त वधू-जन-हस्त स्रस्त से वस्त्रों पर थे।

यही उत्साह युद्ध में जाकर सक्रिय हो जाता है। देखिए लक्ष्मण-मेघनाद का द्वन्द्व-युद्ध (dual) हो रहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि—

होकर मानों एक प्राण दोनों भट-भूषण,
दो देहों को मान रहे थे निज निज दूषण।

उत्साह की अद्भुत व्यञ्जना है-सर्वथा नवीन और मौलिक! यह वीरता की अन्तिम अवस्था है। दोनों वीरों का व्यक्तित्व अंतर्हित हो गया है—उनकी वीरात्माएं भिड़कर एक हो गई हैं। शरीर तो एक प्रकार से विघ्न डाल रहे हैं—इसी लिए दोनों वीर उनसे मुक्त होना चाहते हैं। इस युद्ध का अन्त भी बड़ा मार्मिक है। लक्ष्मण अंतिम प्रहार करते हैं—इस समय की उनकी दर्पोक्ति में दिव्य सात्विक ओज है—धर्म की दुहाई है—

यदि सीता ने एक राम को ही वर माना
यदि मैं ने निज वधू उर्मिला को ही जाना,
तो बस अब तू सँभल बाण यह मेरा छूटा,
रावण का वह पाप-पूर्ण हाटक-घट फूटा!

बस—

हुआ सूर्य-सा अस्त इन्द्रजित लङ्कापुर का।

इसी उत्साह का एक और भव्य चित्र हमें लक्ष्मण-शक्ति के उपरान्त राम के आवेग में मिलता है! राम यहाँ विलाप नहीं करते, वरन् उनका शोक-द्रव उत्साह की अग्नि में घृत की आहुति का कार्य करता है। इस चित्र की व्याख्या कथावस्तु-प्रसंग में हो ही चुकी है। यहाँ वीर और रौद्र का सिन्धु-नद करुणा के सागर में मिल जाता है! वास्तव में इस अतिशय भाव-पूर्ण क्षण का सृजन करके गुप्तजी ने अपना स्थान स्रष्टा

कवियों में अमर कर लिया है !

साकेत में साधारण युद्ध का वर्णन भी बड़ा सजीव है। उसमें शब्दों की तड़ातड़ इतनी नहीं है जितना उत्साह का वेग, यद्यपि शब्दों की ध्वनि में भी भैरवनाद के अनुरूप ही ओज है !

अग्र-पंक्ति का पतन जिधर होता जैसे ही,
बढ़ पीछे की पंक्ति पूर्ति करती वैसे ही।
दो धाराएं उमड़ उमड़ सन्मुख टकरातीं
उठती हो कर एक और गिरती चकरातीं।

साथ ही—

दल बादल भिड़ गए, धरा धँस चली धमक से,
भड़क उठा क्षय, कड़क तड़क से चमक दमक से।

की कड़क तड़क भी दर्शनीय है ! धीरे धीरे उसमें बीभत्सता आजाती है—

ताली देकर नाच रहे थे रुद्र कपाली।
व्रण-माला थी बनी जपा-फूलों की डाली।
रण-चण्डी पर चढ़ी, बढ़ी काली मतवाली।

परम्परा का निर्वाह भी वैज्ञानिक ढंग से हुआ है !

विज्ञ पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि गार्हस्थ्य-चित्र, विरह-वर्णन और भाव-पूर्ण स्थल—इन तीन परिच्छेदों में मैंने साकेत में अभिव्यक्त कवि की भावुकता का ही विवेचन करने का प्रयत्न किया है। भावुकता की परीक्षा के लिए तीन बातें द्रष्टव्य हैं, १—विस्तार, २—तीव्रता, ३—सूक्ष्मता। अर्थात् हमें यह

देखना चाहिए कि कवि का भाव-क्षेत्र कितना विस्तृत है, उसके भावों में कितनी तीव्रता है, और उनके अन्तर में प्रवेश करने की एवं सूक्ष्म-तरल भावों को पहिचानने की शक्ति उसमें कितनी है। जिस कवि का इन तीन शक्तियों पर जितना वृहत्त अधिकार होगा उसकी प्रतिभा उतनी ही जीवन-व्यापिनी होगी, जीवन के चिरन्तन राग-द्वेषों का उसको उतना ही स्पष्ट और गहरा परिज्ञान होगा और उतना ही वह कवि महान होगा। हमने इसी कसौटी पर साकेत की परीक्षा की है। विस्तार की दृष्टि से साकेत में मानव-सम्बन्धों के अनेक रूप मिलेंगे। मानव-जीवन के क्रिया-व्यापारों को संचालित करने वाले मनोरागों का साकेत में व्यापक विवेचन है। उनकी तीव्रता भी असंदिग्ध है। भावों को तीव्र करने के लिए कवि ने प्रायः अद्भुत वातावरण का सृजन किया है। उसके पात्रों के मनोविकार संक्रामक रोग की भाँति अन्य पात्रों को और पाठकों को प्रभावित करते हैं। साथ ही उसकी सूक्ष्म-ग्राहकता भी अपरिमेय है—भरत की ग्लानि और उर्मिला की अर्ध-विस्मृति में उसका प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। अस्तु, साकेत मानव-जीवन की बड़ी अनूठी और पूर्ण व्याख्या है।

साकेत का सांस्कृतिक आधार

संस्कृति—जीवन के अन्य सूक्ष्म एवं व्यापक सत्यों की भाँति संस्कृति की भी कोई निश्चित् और सीमित परिभाषा करना कठिन है। संस्कृति का सम्बन्ध, जैसा कि शब्द की व्युत्पत्ति से पता चलता है, संस्कार से है। संस्कृत अवस्था का नाम ही संस्कृति है—अर्थात् संस्कृति मानव-जीवन की वह अवस्था है जहाँ उसके प्राकृत राग-द्वेषों में परिमार्जन हो जाता है। यह परिमार्जन, यह संस्कार, उसे अपनी स्वभावगत इच्छा-आकांक्षाओं, प्रवृत्ति-निवृत्तियों के उचित सामञ्जस्य द्वारा करना पड़ता है। एकाकी मनुष्य में स्वभाव से जो भाव उठते हैं, उनके मूल में अहं की—स्वार्थ की प्रेरणा होना अनिवार्य है—अतः उनकी परिधि आत्म-साधना तक ही सीमित रहती है, परन्तु जीवन में व्यक्ति का अस्तित्व समाज के अङ्ग स्वरूप

ही है, स्वतंत्र नहीं, इसीलिए उसे अपने राग-विरागों में संयम और समन्वय की आवश्यकता पड़ती है—उनको व्यष्टि के तल से उठा कर समष्टि-तल पर लाना पड़ता है; अपने को दूसरों की सापेक्षता में देखना पड़ता है। यहीं संस्कृति का जन्म होता है। यदि कहना चाहें तो कह सकते हैं कि सामाजिक जीवन की आन्तरिक मूल प्रवृत्तियों का समन्वय ही संस्कृति है। संस्कृति को प्राप्त करने के लिए जीवन के अन्तस्तल में प्रवेश करना पड़ता है। स्थूल के आवरण के पीछे सूक्ष्म का जो सत्य, शिव और सुन्दर स्वरूप छिपा हुआ है संस्कृति उसको ही पहिचानने का प्रयत्न करती रहती है। 'जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर बढ़ना' ही उसका ध्येय है!—यह तो रही आन्तरिक धारणा की बात! संस्कृति का व्यक्त रूप क्या है? संस्कृति का व्यक्त रूप है सभ्यता—अर्थात् आचार-विचार, विश्वास परम्परायें, शिल्प-कौशल; और माध्यम हैं—कला, साहित्य आदि। अब यदि इसका अर्थ और स्पष्ट करना चाहें, तो कवि पंत के शब्दों में संस्कृति के प्रत्ययों का विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं—

आह्लाद अखिल, सौन्दर्य्य अखिल,

× × × ×

आशाऽभिलाप, उच्चाकांक्षा,
उद्यम अजस्र, विघ्नों पर जय

विश्वास असद् सद् का विवेक
दृढ़ श्रद्धा, सत्य प्रेम अक्षय !
मानसी मूर्तियाँ ये अमन्द,
सहृदयता त्याग सहानुभूति—
जो स्तम्भ सभ्यता के पार्थिव,
संस्कृति-स्वर्गीय, स्वभाव-पूर्ति !
मानव का मानव पर प्रत्यय,
परिचय, मानवता का विकास,
विज्ञान-ज्ञान का अन्वेषण,
सब एक, एक सब में प्रकाश !

प्रत्येक देश या जाति की अपनी विशेष सामाजिक प्रेरणाएँ अपनी आशा-आकांक्षाएं, अपने विश्वास हैं, अतः उसकी अपनी विशेष संस्कृति भी होती है जिस पर उसकी जलवायु, भौगोलिक स्थिति, उसकी ऐतिहासिक परम्पराओं का प्रभाव होता है ! निदान भारत की भी अपनी संस्कृति है। भारतीय संस्कृति विश्व की अत्यन्त प्राचीन संस्कृति है और कदाचित् सबसे पूर्ण ! गुप्तजी राष्ट्रीय कवि हैं—उनमें भारतीयता ओत-प्रोत है ! राष्ट्रीयता में भी उनका क्षेत्र है—संस्कृति। वे भारतीय संस्कृति के कवि हैं, यह उनका सब से बड़ा गौरव और यही उनकी प्रमुख विशेषता है ! अस्तु !

साकेत प्रबन्ध काव्य है। उसमें जीवन को समग्ररूप में ग्रहण किया गया है; दूसरे उसके चरित्र-नायक हैं आर्य-

संस्कृति के सबसे महान प्रतिष्ठापक भगवान् राम—अतः स्वभावतः ही उसका सांस्कृतिक आधार कवि के अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट और पूर्ण है ! साकेत में गुप्त जी ने राम-रावण—युद्ध को ही सांस्कृतिक प्रश्न बना दिया है। यह एक राजा की दूसरे राजा से वैर-शुद्धि मात्र नहीं है—यह है आर्य-संस्कृति का कोणप-संस्कृति से संघर्ष और उस पर विजय ! भरत-लक्ष्मण एवं अयोध्यावासी सीता को राम-पत्नी के रूप में इतना नहीं देखते जितना भारत-लक्ष्मी अथवा आर्य-संस्कृति के रूप में—"निज संस्कृति-समान आर्या की अग्रज रक्षा करते थे।" राम की विजय कवि के लिए अपनी संस्कृति की ही विजय है अतः वह उसमें आर्य-संस्कृति की विजय ही मनाता है,

> आर्य-सभ्यता हुई प्रतिष्ठित, आर्य-धर्म आश्वस्त हुआ !

कवि का हृदय विजय-गर्व से नाच उठा है !

साकेत का सांस्कृतिक आधार तो शुद्ध भारतीय है ही, बस, इसलिए हमें यहाँ यह देखना है कि उसके आदर्शों का प्रतिफलन कवि ने किस प्रकार किया है। सबसे पूर्व हमें 'साकेत में जीवन का आदर्श क्या है ?' इस प्रश्न पर विचार करना है क्योंकि संस्कृति की मूल-प्रेरणा इसी आदर्श में मिलती है। इसके उपरान्त धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक, राजनैतिक आदर्शों और भौतिक जीवन की रीति-नीति का विवेचन समीचीन होगा। संस्कृति के ये ही अंग हैं, और मैं समझता हूँ इन्हीं के सहारे साकेत का सांस्कृतिक आधार स्पष्ट हो जाना चाहिए !

जीवन का आदर्श:— साकेत के आदर्श चरित्र हैं भरत और राम—प्रधान चरित्र है उर्मिला। उनके चरित्र के अध्ययन से जीवन के आदर्श चरित्र पर सम्यक् प्रकाश पड़ता है

उनके जीवन की विभूति है त्याग ! परन्तु यह त्याग वैराग्य अर्थात् निषेधात्मक नहीं है उसमें अनुराग का योग है। यह त्याग भावुकता का प्रसाद है, ज्ञान का परिणाम नहीं। 'त्याग और अनुराग चाहिए बस यही !'—अथवा 'त्याग का संचय, प्रण (प्रणय) का पर्व !' में उसकी व्याख्या स्पष्ट है ! आठवें सर्ग में सीता-राम, राम-रावण, एवं राम-जाबालि का संवाद भी इसी ओर संकेत करता है। इस त्याग का साधन है कर्म। कर्तव्यशीलता चरित्र का सब से बड़ा गौरव है। जीवन को इसीलिए साकेत में जूझना मात्र कहा गया है ! साकेत के प्रत्येक पात्र का जीवन कर्म-प्रधान है।

माना आयें सभी भाग्य का भोग हैं,
किन्तु भाग्य भी पूर्व कर्म का योग है!—

इसीलिए उर्मिला, शत्रुघ्न, माण्डवी काल से भी युद्ध करने को प्रस्तुत हैं—

'तूने यह क्या दुर्दैव किया
आभास स्वप्न में भी न दिया,
कुछ शमन यत्न करते हम भी
है योग-साध्य दुर्दम यम भी?'—(उर्मिला)

रुठा और अदृष्ट मनाने की बातों से,
अब मैं सीधा उसे करूंगा अघातों से- (शत्रुघ्न)

विघ्नों पर (दु:खों पर) विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन और उपभोग—यह है पाश्चात्य आदर्श। परन्तु हम भारतीयों का आदर्श दु:खों पर विजय प्राप्त कर सुख का अर्जन एवं उपभोग करना ही नहीं, हमारे सुख की चरम परिणति है उसको त्यागने में! इसीसे नर को ईश्वरता प्राप्त होती है और यह भूतल स्वर्ग बन जाता है। यही हमारे जीवन का आदर्श है और ठीक यही साकेत का सन्देश!

धार्मिक आदर्शः—तात्विक दृष्टि से साकेतकार उदार वैष्णव भक्त हैं। तुलसी की भाँति उनकी भी रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद में प्रगाढ़ श्रद्धा है। वे जीव और ब्रह्म की स्थिति को कुछ अंशों में निश्चय ही पृथक मानते हैं। राम ब्रह्म के अवतार हैं, सीता माया अर्थात् शक्ति—ब्रह्म और माया से ही संसार का क्रम चल रहा है—

हम को ही लेकर अखिल विश्व की क्रीड़ा
आनन्द मयी नित नयी प्रसव की पीड़ा।

परमात्मा लीलाधाम है, साथ ही भक्त-वत्सल भी—अत संसार को पथ दिखाने के लिए वह अपनी सृष्टि करता रहत है। राम का जन्म भी आर्य-धर्म के संस्थापनार्थ हुआ था—

मैं आर्यों का आदर्श बताने आया।

राम में कवि की अनन्य भक्ति है—वह राम के अतिरिक्त

ईश्वर के अन्य किसी रूप को मानने को प्रस्तुत नहीं है। यही साकेत की दार्शनिक पृष्ठभूमि है !

क्रियात्मक रूप में कवि का आर्य-धर्म के सभी अंगों में विश्वास है। वेद और यज्ञ, जप, तप, व्रत-पूजा, सभी उनको मान्य हैं। वेद आर्य-संस्कृति का आधार है, यज्ञ उसका प्रमुख साधन। तभी तो राम चाहते हैं कि—

उच्चारित होती चले वेद की वाणी,
गूँजे गिरि-कानन सिन्धु-पार कल्याणी !
अम्बर में पावन होम-धूम लहरावे।

व्रत पूजा आदि का साकेत में बार-बार उल्लेख है। उर्मिला की माता अपनी कन्याओं को गौरी का पूजन करने भेजती हैं, स्वयं व्रत करती हैं। शत्रुघ्न भी राम की खर-दूषण विजय का वर्णन करते हुए विशेष ज़ोर इन्हीं बातों पर देते हैं—

होते हैं निर्विघ्न यज्ञ अब, जप समाधि तप पूजा-पाठ,
यश गाती हैं मुनि-कन्याएँ, कर व्रत पर्वोत्सव के ठाठ।

मध्य-युग में आकर क्षत्रियत्व के प्रभुत्व से और साथ ही वाम-मार्ग के प्रभाव-वश कर्म-काण्ड विशृङ्खल हो गया था। ज्ञान का आधार लुप्त हो जाने से यज्ञ में पशु-बलि आदि का भी प्रचार हो चला था। वास्तव में यह विकृति ही थी। अतः साकेत में उसका विरोध है। लक्ष्मण मेघनाद से कहते हैं—

कौन धर्म यह शत्रु खड़े हुंकार रहे हैं।
तेरे आयुध यहाँ दीन-पशु मार रहे हैं॥

"करता हूँ मैं वैरि-विजय का ही यह साधन",
"तब है तेरा कपट-मात्र यह देवाराधन।"

सामाजिक आदर्श— साकेत में जिस सामाजिक जीवन का वर्णन है, उसमें भारतीय संस्कृति कूट-कूट कर भरी हुई है। सामाजिक जीवन के लिए मर्यादा अनिवार्य है—

निज मर्यादा में किन्तु सदैव रहें वे।

उसकी सम्यक् व्यवस्था के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अपने को दूसरों की सापेक्षता में देखे, अपने हित का दूसरों के हित से समन्वय करे। प्रत्येक मनुष्य को यह समझना चाहिए कि—

केवल उनके ही लिए नहीं यह धरणी,
है औरों की भी भार-धारिणी भरणी।
जन-पद के बंधन मुक्ति हेतु हैं सबके,
यदि नियम न हों, उच्छिन्न सभी हों कबके।

भारतीय समाज-विधान के मुख्य अंग हैं—वर्ण-व्यवस्था और आश्रम-धर्म। साकेत में उनका गौरव सर्वत्र स्वीकृत किया गया है। परन्तु उसमें मध्य-युग के विकार नहीं हैं। साकेत में वर्ण-व्यवस्था का शुद्ध मूल-रूप मिलेगा। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सभी का अपना निश्चित स्थान है। ब्राह्मण पूज्य हैं परन्तु तभी तक जब, तक वे अपने आदर्श पर स्थित हैं। परशुराम की मुनिता पूजनीय है, द्विजता-मात्र नहीं। उसके लिए कवि का स्पष्ट कथन है—

द्विजता तक आततायिनी,
वध में है कब दोष-दायिनी।

दूसरी ओर शूद्रों की शूद्रता का भी तिरस्कार नहीं है। राम गुह-राज का सखा के सदृश आदर करते हैं। वे उसका अंक में भर कर स्वागत करते हैं। सीता, किरात भिल्ल वालाओं के साथ सखी का-सा व्यवहार करती हैं। वे उनकी सेवा में अनुरत हैं। उधर आश्रम-धर्म की मान्यता भी दशरथ की ग्लानि द्वारा वड़े सुचारु रूप से व्यञ्जित की गई है—

गृह-योग्य वने हैं तपस्पृही,
वन-योग्य हाय हम वने गृही।

मध्यकालीन संस्कृति में और भी कुछ दोष आ गए थे। उस-समय स्त्रियों का स्थान वहुत गिर गया था। कवीर, तुलसी आदि के काव्यों का अध्ययन उस पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। परन्तु वास्तव में आर्य-संस्कृति इसका समर्थन नहीं करती। उसके अनुसार स्त्रियाँ अर्धाङ्गिनी हैं—उनका स्थान पुरुष का वाम-पार्श्व है। वे पुरुष-जीवन की पूर्ति हैं—

मातृ-सिद्धि, पितृ-सत्य सभी
सुभ्रु अर्धांगी विना अभी।
हैं अर्धाङ्ग अधूरे हो,
सिद्ध करो तो पूरे ही॥

साकेत की उर्मिला, माण्डवी, सुमित्रा आदि के चरित्र स्त्रियों की गरिमा की ओर संकेत करते हैं। परन्तु इस प्रकार

स्त्रियों के महत्व को स्वीकार करते हुए भी भारतीय जीवन में उनका अपना विशेष क्षेत्र है। वे गृह-लक्ष्मी हैं—वहाँ उनका साम्राज्य है। इससे बाहर, क्षमता होने पर भी, भारतीय ललना प्रायः नहीं जाती। माण्डवी जैसी सुयोग्य स्त्री को भी राजनीति-विषयक वार्तालाप सुनने के लिए भरत की आज्ञा पूर्व ही लेनी पड़ती है—'राजनीति बाधक न बने तो तनिक और ठहरूँ इस ठौर।' आवश्यकता पड़ने पर वे उर्मिला और कैकेयी की भाँति रण-चण्डी का रूप धारण कर सकती हैं, परन्तु साकेत के कवि का फिर भी यही कहना है—

क्या हम सब मर गये हाय, जो तुम जाती हो,
या हमको तुम आज दीन दुर्बल पाती हो।
घर बैठो तुम देवि! हेम की लंका कितनी

× × × ×

मारेंगे हम देवि! नहीं तो मर जावेंगे,
अपनी लक्ष्मी लिए बिना क्या घर आवेंगे।
तुम इस पुर की ज्योति, अहो यों धैर्य न खोओ,
प्रभु के स्वागत हेतु गीत रच थाल संजोओ॥

क्योंकि उनका अपमान आर्यों को सह्य नहीं—"अबला का अपमान सभी बलवानों का है।" हाँ वे युद्ध-कार्य में दूसरे प्रकार से सहायता दे सकती हैं। उनका कार्य है आश्वासन देना, सुख की व्यवस्था करना

प्रिये तुम्हारी सेवा का सुख पाने को ही यह श्रम सर्व,
वीरों के व्रण को वधुओं की स्नेह-दृष्टि का ही चिर गर्व

पारिवारिक आदर्श— परिवार समाज का ही संकीर्ण परंतु सघन रूप है। समाज का आदर्श है परिवार सदृश होना और परिवार का आदर्श है समाज के समान होना! साकेत का समाज ऐसा ही है—

एक तरु के विविध सुमनों-से खिले
पौर जन रहते परस्पर हैं मिले !

उसके परिवारिक जीवन का तो विस्तृत विवेचन मैं कर ही चुका हूँ। स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध, पिता-पुत्र का सम्बन्ध, भाई-भाई का सम्बन्ध, भाभी-देवर सास-बहू का सम्बन्ध, सपत्नियों का पारस्परिक व्यवहार—इत्यादि भारतीय परिवार के सभी सम्बन्ध-संसर्ग अपने आदर्श-रूप में यहाँ मिलेंगे। साकेत के गार्हस्थ्य-चित्रों में भारतीय संस्कृति का परमोज्ज्वल स्वरूप मिलता है। हाँ, लक्ष्मण और कैकेयी का वार्तालाप, उधर शत्रुघ्न का विमाता के प्रति व्यवहार सर्वथा असंस्कृत है। भरत के शब्दों में भी कुछ असंयम है। आदर्श रघु-परिवार में ऐसा व्यवहार गर्हित है। दो-एक स्थानों पर लक्ष्मण के उर्मिला के चरणों पर गिरने का वर्णन है। वह भी भारतीय संस्कृति के अनुकूल नहीं पड़ता। उधर उर्मिला के "सीसी करती हुई पार्श्व में लखकर जब तब मुझको" आदि दो एक वाक्यों में भी वाक्संयम की न्यूनता अवश्य है। परन्तु इन सभी बातों का कारण है। कवि ने निश्चय

ही इन्हें जान बूझकर छोड़ दिया है। वह जानता था कि इस प्रकार के शब्दों और घटनाओं पर आक्षेप होगा, परन्तु फिर भी उसने उनमें परिवर्तन या परिशोधन नहीं किया ! क्यों ? कारण स्पष्ट है ! वह संस्कृति के मूल्य से परिचित है, परन्तु वह यह भी जानता है कि मानव-हृदय में सभी कुछ संस्कृत और शुद्ध नहीं है। उसके अन्दर अनेक अच्छी बुरी भावनाएं अपने नैसर्गिक रूप में विद्यमान हैं और समय समय पर उनका प्रकाशन भी अनिवार्य हो जाता है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न और भरत शोक और क्रोध से अभिभूत होकर संयम और संस्कृति को भुला देते हैं, और ऐसा मानव जब तक मानव है तब तक सदैव होता रहेगा।

नीति :— प्रत्येक देश की अपनी विशेष रीति-नीति, प्रथाएं विश्वास और परम्पराएं, होती हैं। उनमें देश की संस्कृति निहित रहती है। वैसे तो मूल नैतिक सिद्धांत सभी देशों और कालों में एक से ही हैं, परन्तु फिर भी भिन्नभिन्न देशों में कुछ विशेषताएं होती ही हैं ! धर्म का अर्थ है धारण करने वाला अर्थात् जीवन को सम्यक रूप से यापन करने के लिए जिस विधान की आवश्यकता है वह धर्म (नीति) है ! हमारे यहाँ धर्म के जो दश अंग माने गए हैं, वे लगभग सभी किसी न किसी रूप में सर्वत्र मान्य हैं। साकेत में उन सभी का प्रतिफलन मिलेगा। राम में तो मानों वे सभी मूर्तिमन्त हो उठे हैं ! फिर भी भारतीय जीवन में आत्म-निग्रह को कुछ अधिक महत्व दिया गया है। निग्रह के लिए मुख्य

दो वृतियाँ हैं—काम और लोभ ! लोभ का निग्रह-अपरिग्रह साकेत के सभी पात्रों में मिलेगा । राम और भरत की निर्लोभता तो जावालि को भी चकित कर देती है । राज्य जैसी वस्तु का भी भारतीयों के हृदय में कितना मूल्य है, इसकी साकेत में स्पष्ट व्याख्या है—

और किस लिए राज्य मिले
जो है तृण सा त्याज्य, मिले ।

इसी कारण हमारे दिग्विजयी नृपतियों का लक्ष्य सदैव विजय और यश लाभ ही रहा है, धन लूटना नहीं । उर्मिला का यही सन्देश है ।

गरज उठी वह "नहीं नहीं पापी का सोना,
यहां न लाना, भले सिन्धु में वहीं डुबोना ।
धीरो धन को आज ध्यान में भी मत लाओ !

× × ×

सावधान यह अधम धान्य-सा धन मत छूना,
तुम्हें तुम्हारी मातृ-भूमि ही देगी दूना !"

काम के निग्रह के लिए भारतीय नीति-शास्त्र में पुरुषों को एक पत्नीव्रत और स्त्रियों को पातिव्रत धर्म का आदेश है । अन्य देशों की अपेक्षा हमारे यहाँ इसका कहीं अधिक गौरव है । दूसरे की स्त्री पर कुदृष्टि डालने से पुरुष का नाश हो जाता है, इसी प्रकार पर पुरुष की भावना मात्र ही स्त्री के जन्म को विगाड़ने के लिए यथेष्ट है । साकेत की कहानी पातिव्रत और एक-पत्नी-व्रत

की ही कहानी है। लक्ष्मण को सब से बड़ा बल इसी बात का है कि—

यदि सीता ने एक राम को ही वर माना,
यदि मैंने निज वधू उर्मिला को ही जाना!

उधर सीता पर-पुरुष से बात करने में ही धर्म का ह्रास समझती हैं—

'विमुख हुई मौनव्रत लेकर उस खल के प्रति पतिव्रता।'

और अनिच्छा-पूर्वक भी पर-पुरुष का स्पर्श करने के कारण उनको अग्नि शुद्धि करनी पड़ती है! इसीलिए पातिव्रत का आदर्श इतना ऊंचा है—और उसका गौरव इतना महान है कि

उड़ जायगा दग्ध देश का सती श्वास से ही बल-वित्त

नीति का एक हलका स्वरूप है शिष्टाचार (Ettiquette) पारस्परिक सम्बन्ध संसर्गों में स्वच्छता बनाए रखने के लिए शिष्टाचार के नियमों का पालन अत्यन्त आवश्यक है। इसके अन्तर्गत व्यावहारिक बातें आती हैं। साकेत में शिष्टाचार का बड़ा विशद रूप मिलता है। अपने से बड़ों के प्रति, बराबर वालों के प्रति, अपने से छोटों के प्रति, स्त्रियों के प्रति, अपनों तथा दूसरों के प्रति हमारा कैसा व्यवहार होना चाहिए यह सभी साकेत में मिलेगा। वशिष्ठ गुरु हैं—उनका समस्त राजकुल में आदर है। राजा से लेकर कुलस्त्रियों तक कोई भी उनके सम्मान में त्रुटि नहीं कर सकता। सुमंत सेवक हैं परन्तु परिवार-भुक्त और पिता के समवयस्क होने के कारण राम-लक्ष्मण आदि उनसे काका

कहते हैं। ऋषियों और विद्वानों के सत्कार में राज-परिवार सदैव सतर्क रहता है। अतिथि-सत्कार भारतीय संस्कृति का प्रसिद्ध है ही। चित्रकूट में राम द्वारा उसका बड़ा सफल निदर्शन हुआ है—

अपना आमन्त्रित अतिथि मान कर सबको,
पहिले परोस परितृप्ति-दान कर सबको,
प्रभु ने स्वजनों के साथ किया भोजन यों—

साकेत के समाज में पुत्र-पुत्रियाँ पिता को तात कहते हैं, छोटे भाई बड़ों को आर्य, भाभियों को आर्या, स्त्रियाँ पतियों को आर्य-पुत्र, पति उनको देवी आदि सम्मान-युक्त नामों से सम्बोधित करते हैं। स्त्रियाँ साधारणतः पतियों का नाम नहीं लेतीं—तभी तो उर्मिला आत्म-विस्मृति में भी 'विवश लक्' कह कर ही चुप हो जाती है। संकोच और शील उनकी विभूति है, पति के संबंध में उनको एक मधुर संकोच का अनुभव होता है। अतः ग्राम की स्त्रियों के यह पूछने पर कि 'शुभे तुम्हारे कौन उभय ये श्रेष्ठ हैं ?' सीता—'He is Mr. Ram—my husband !' (आप महाशय राम—मेरे पति हैं।) यह नहीं कहतीं। वे बड़े लाघव से संकोच की रक्षा करते हुए उनका परिचय देती हैं—'गोरे देवर, —श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं।' और इसी कारण कौशल्या के सम्मुख राम-सीता के विवाद के लिए कवि को—

आ पड़ता तब सोच कहीं,
रहता तब संकोच नहीं।

कह कर सफ़ाई देनी पड़ती है। दूसरों की स्त्रियों से व्यवहार करते समय सौजन्य का और भी ध्यान रखना पड़ता है। साकेत के गुहराज का व्यवहार इसका बड़ा सुन्दर उदाहरण है। जब सीता उसे स्वर्ण-मुद्रा देने लगीं, तो—

गुह बोला कर जोड़ कि "यह कैसी कृपा,
न हो दास पर देवि कभी ऐसी कृपा।
क्षमा करो इस भाँति न तुम तज दो मुझे,
स्वर्ण नहीं, हे राम, चरण-रज दो मुझे॥'

उक्त उद्धरण में सौजन्य का बड़ा सुन्दर और सूक्ष्म चित्र है! गुह बातें तो कर रहा है सीता से, परन्तु चरण-रज माँगता है राम से। आस्तिक भक्त इसका कारण राम की अहिल्या-तारिणी चरण-रज की उपादेयता ही बतलाएंगे—किन्तु बात केवल इतनी नहीं है। दूसरे की स्त्री की चरण-रज मांगना भी शील के विरुद्ध है। उसमें (चाहे चरणों का ही सही) स्पर्श का भाव विद्यमान है। इसीलिए सीता से बात करता हुआ भी गुह-चरण-रज मांगने के समय राम को सम्बोन्धित कर निकलता है। 'हे राम' न कहने पर शील भंग हो जाता।—इसी सौजन्य पर विश्वास रख कर तो लक्ष्मण के कुपित हो जाने पर सुग्रीव तारा को साथ लेकर क्षमा-याचना करने गया था!

तारा को आगे कर के तब नत वानर-पति शरण गया!

इसी प्रसंग का साकेत में एक और सुन्दर उदाहरण

मिलता है। भारतीय संस्कृति के अनुसार माता (पूज्या) का शृङ्गार-वर्णन वर्जित है। कालिदास के कोढ़ी होने की किम्वदन्ती इसी का समर्थन-मात्र है। वास्तव में वहुत कम कवि इस प्रलोभन को रोक सके हैं। परन्तु साकेत में इसका काफी ध्यान रखा गया है। जहाँ कवि ने सीता के विषय में कुछ कहा है—वहाँ सदैव उसका शिर संकोच और श्रद्धा से झुक गया है। अतः उनके शृङ्गार-वर्णन में कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म और कोमल स्पर्शों का ही प्रयोग किया है—वह श्लेष या अन्य किसी कौशल से अपने को वचा गया है। सीता के उरोजों का वर्णन देखिए कितनी सफाई से हुआ है—

भाग सुहाग पक्ष में थे,
अंचल-वद्ध कक्ष में थे!

इसी प्रकार आठवें सर्ग का चित्र भी है! इसके अतिरिक्त शत्रुओं के प्रति सौजन्य एवं सेवकों के प्रति विनयाचार का भी एक-आध स्थान पर सुन्दर वर्णन है। 'दूत वोला उत्तरीय समेट' में राजकुमार के सम्मुख दूत के शिष्टाचार का प्रदर्शन है! अस्तु—

गौरव-परम्पराएं और विश्वास :— भारत का अतीत वड़ा उज्ज्वल रहा है, अतएव उसकी गौरव-परम्पराएं असूल्य हैं। भारतीयों को उन पर गर्व है। स्वयं रघुकुल की गौरव-गरिमा अतुल्य है। साकेत में वार-वार उसको स्मरण कर के प्रेरणा प्राप्त की गई है!

किसने शत यज्ञ हैं किए,
पदवी वासव की बिना लिए ?
सुन, हैं कहते कृती कवि—
मिलती सागर को न जान्हवी,
स्व-भगीरथ यत्न जो कहीं
करते वे सरयू सखा नहीं !

× × ×

जिसका गत यों महान् है !

भारत में जो कुछ महान् और सुन्दर है, वह हमारे गौरव का प्रतीक बन गया है। हमारी गंगा, यमुना, सरयू, विन्ध्य, हिमालय जड़ नदी पर्वत नहीं हैं। वे भारतीय जीवन के प्रेरक हैं उनमें हमारा जीवन घुल मिल गया है। उनका महत्व भौतिक नहीं धार्मिक है। मार्ग में गंगा को देख कर सीता श्रद्धा और हर्ष से पुलकित हो उठती हैं—

जय गंगे आनन्द-तरङ्गे कलरवे,
अमल-अञ्चले पुण्यजले दिव-सम्भवे
सरस रहे यह भरत-भूमि तुम से सदा
हम सबकी तुम एक चलाचल सम्पदा !!

इसी प्रकार उर्मिला साकेत-वासियों को गंगा, यमुना और सरयू के नाम पर उत्साहित करती है—

चन्द्र-सूर्य-कुल-कीर्ति-कला रुक जाय न वीरो,
विन्ध्य हिमालय-भाल कहीं झुक जाय न वीरो,

देखो उतर न जाय कहीं पर मौक्तिक मानी,
गङ्गा-यमुना सिन्धु और सरयू का पानी!

सामाजिक जीवन की प्रथाएँ और संस्कार भी संस्कृति के भव्य निदर्शन हैं—उनमें संस्कृति का स्वरूप न जाने कबसे संरक्षित चला आता है! भारतीय जीवन में अनेक प्रथाएं और संस्कार प्रचलित हैं—यहाँ भी अन्य देशों की भाँति जन्म, विवाह मरण आदि बहुत से संस्कार किए जाते हैं, परन्तु उनका अपना पृथक आदर्श है! साकेत में उनका स्थान स्थान पर वर्णन है—विशेष कर विवाह और मरण का। विवाह का आदर्श क्या है, उर्मिला से सुनिए—

कर-पीड़न प्रेम-याग था
वह स्वीकार कहूँ कि त्याग था
नर का अमरत्व-तत्व था
वह नारी कुल का महत्व था!

यहाँ विवाह को त्याग और स्वीकृति दोनों माना है—उसमें दूसरे के आत्म-समर्पण को स्वीकार करना और अपने व्यक्तित्व का त्याग करना पड़ता है। नर नारी के लिए वह अमरत्व का साधन है। मरण को भी भारतीय उसी उत्साह से मनाते हैं जिससे जन्म अथवा विवाह को। मृत्यु का भी सुख से स्वागत करना हमारी संस्कृति की विशेषता है। दशरथ के मरण-संस्कार का बड़ा भव्य चित्र साकेत में अंकित है। उसमें सभी प्रमुख प्रथाओं का सूक्ष्म वर्णन है—

'आज नरपति का महा संस्कार,
उमड़ने दो लोक पारावार!
है महायात्रा यही इस हेतु
फहरने दो आज सौ सौ केतु!
सुकृतियों के जन्म में भव-भुक्ति,
और उनकी मृत्यु में शुभ मुक्ति।
अश्व, गज, रथ हों सुसज्जित सर्व,
आज है सुरधाम-यात्रा पर्व।

आगे संस्कार का वर्णन है—

राज-गृह की वन्हि बाहर जोड़,
कर उठे द्विज होम आहुति छोड़।

× × ×

आज पैदल थे सभी सत्पात्र,
वाहनों पर नृप समादर मात्र।
शेष दर्शन कर सभक्ति, सयत्न,
जन लुटाते थे वसन, धन, रत्न।

दशरथ की चिता अगरु की बनाई जाती है।

फिर— प्रदक्षिणा, प्रणति जय जयकार,
सामगान समेत शुचि संस्कार।

किया जाता है जिसमें घृत और कपूर की वर्षा होती है और अन्त में—

कण्ठ कण्ठ गा उठा—शून्य शून्य छा उठा।
"सत्य काम सत्य है—राम नाम सत्य है !"

वशिष्ठ राम नाम की प्रतिष्ठा कर देते हैं (कदाचित दशरथ को इसीसे सुख मिलता) जो आजतक उसी रूप में चला आता है। इसके उपरांत भरत और राम पिता का विधिवत् तर्पण करते हैं।

संस्कारों के अतिरिक्त सती, स्वयम्वर, अभिषेक, उपवास आदि प्रथाओं पर भी साकेत में प्रकाश डाला गया है। पति की मृत्यु के उपरान्त भारतीय स्त्री का संसार सर्वथा नष्ट हो जाता है। कौशल्या इसी भाव की अभिव्यक्ति करती हैं—

हाय भगवन क्यों हमारा नाम ?
अब हमें इस लोक से क्या काम ?
भूमि पर हम आज केवल भार,
क्यों सहे संसार हाहाकार ;

इसलिए रानी सती होने का प्रस्ताव करती हैं किन्तु वशिष्ठ उन्हें विधवाओं का आदर्श बतलाते हैं—

धन्य वह अनुराग-निर्गत राग,
और शुचिता का अपूर्व सुहाग।
अग्निमय है अब तुम्हारा नाम,
दग्ध हों जिसमें स्वयं सब काम।
सहमरण के धर्म से भी ज्येष्ठ,
आयु भर स्वामि-स्मरण है श्रेष्ठ।

इस प्रकार कवि सती-प्रथा का विरोध-सा करता है—उसका कहना है कि जन्म भर स्वामी का स्मरण करते हुए तप और संयम का जीवन व्यतीत करना सहमरण से भी श्रेष्ठ है ! हमारे यहाँ वधुओं का कुल के मंगल के लिए उपवास करना एक अत्यन्त पवित्र कर्तव्य-कर्म है—उनकी कामना सीता के शब्दों में सदैव यही रहती है—

गृह-कलह शांत हो, हाय कुशल हो कुलकी !

इसीलिए वे उपवास व्रत आदि किया करती हैं—

'वधुएं लंघन से डरतीं
तो उपवास नहीं करतीं—

साकेत में योग, शाप, सौगन्ध, शकुन आदि का भी प्रसंगानुसार उपयोग किया गया है ! योग-क्रियाओं में भारतीयों का विश्वास प्रारम्भ से ही रहा है। चित्तवृत्ति के निरोध से अप्राकृतिक कार्य भी सिद्ध हो जाते हैं ! कवि ने साकेत में दो वार उनका प्रयोग कर के उनके प्रति अपनी आस्था प्रकट की है—एक वार हनुमान के उड़ने में, दूसरे वशिष्ठ द्वारा युद्ध का दृश्य उपस्थित करने में ! इसके साथ ही शाप, सौगन्ध, शकुन (नेत्र आदि का फड़कना) में भी भारतीय जनता का विश्वास रहा है। स्त्रियों की स्वभावगत भीरुता इनकी ओर अधिक आकृष्ट होती है। साकेत में कौशल्या, सीता आदि के मुख से कवि ने उनकी ओर वार-वार संकेत किया है—

'तो मुझे निज राम की सौगन्ध !'—(कौशल्या)

'तुम कहते हो पर यह मेरा दक्षिण नेत्र फड़कता है !'—(सीता)

राजनैतिक आदर्श :— साकेत में वैसे तो साम्यवाद, लोकतंत्र आदि विभिन्न विचारधाराओं का व्याख्यान भी बड़ा स्पष्ट मिलेगा, परन्तु कवि ने भारतीय संस्कृति के अनुरूप राजतंत्र में ही आस्था प्रकट की है और उसी का प्रतिपादन किया है। हमारी संस्कृति में राजा का बड़ा गौरव है। परन्तु राजा की परिभाषा भी असाधारण है। राजा स्वेच्छाचारी अधिकार-दृप्त मनुष्य नहीं हो सकता। उसके लिए बल-वैभव अथवा राजनैतिक प्रतिभा पर्याप्त नहीं है—उसकी सब से बड़ी विशेषता है लोक सेवा की भावना। 'नियत शासक लोक सेवक मात्र।' राज्य राजा की सम्पत्ति नहीं, प्रजा की थाती है—'प्रजा के अर्थ है साम्राज्य सारा।' वह प्रजा का व्यवस्थागार-मात्र है! उसमें केवल दायित्व का ही भार है। राजा अकेला सर्व-क्रियामाण हिटलर नहीं है, उस पर व्यवस्थापिका सभा का नियंत्रण है—

वही हो जो कि समुचित हो सभा में।

इस प्रकार यद्यपि भारतीय राज्य-तंत्र और प्रजातन्त्र में थोड़ा ही अन्तर रह जाता है, परन्तु फिर भी राजा का अस्तित्व है ही। राजा के लिए कुलीन राज-पुत्र होना भी प्रायः अनिवार्य ही समझा जाता है, वंश परम्परा का बहुत मूल्य रखा गया है। दूसरे राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही उत्तराधिकारी होता है—

मुकुट है ज्येष्ठ ही पाता हमारा।

अन्य राज-पुत्रों को भी उचित पदवी मिलती है। साकेत के राम को इसका पूरा ध्यान है। वे सीता से कहते हैं—

रहेगा साधु भरत का मंत्र, मनस्वी लक्ष्मण का बलतंत्र!
तुम्हारे लघु देवर का धाम, मात्र दायित्व हेतु है राम!!

परन्तु यही सब कुछ नहीं—राजा को सद्गुणों का प्रतीक होना चाहिए। साकेत की प्रजा के सम्मुख राज-परिवार का उज्ज्वल आदर्श प्रस्तुत है, इसीलिए उसका जीवन सर्वथा संतुष्ट और शान्त है।

नहीं कहीं गृह-कलह प्रजा में, हैं संतुष्ट और सब शान्त,
उनके आगे सदा उपस्थित, दिव्य राजकुल का दृष्टांत!

राजा और प्रजा के बीच शासक और शासित का अंतर नहीं है 'पूर्ण हैं राजा प्रजा की प्रीतियाँ।' प्रजा राजा की प्रकृति है। यह है साकेत के राजा की परिभाषा। इस आदर्श से यदि वह च्युत हो जाए तो प्रजा को अधिकार है कि वह अपने बल 'लोकमत' का प्रयोग करे। राजा यदि दायित्व भूल राज्य को भोग बनाले—यदि राज्य का प्रलोभन उसको हो जाए, तोशत्रुघ्न कहता है— तो उचित है क्रांति का ही केतु!

दूर हो ममता विषमता मोह!

* * *

इतना ही नहीं वह और आगे बढ़ता है और साम्यवाद की स्पष्ट घोषणा कर देता है

विगत हों नरपति रहें नर-मात्र,
और जो जिस कार्य के हों पात्र!
वे रहें उस पर समान नियुक्त
सब जिएं ज्यों एक ही कुल भुक्त!

परन्तु भारतीय संस्कृति को यह विधान मान्य नहीं। इसीलिए कवि भरत के शब्दों में उसका बड़ा सुन्दर निराकरण करता है—

अनुज, उस राजत्व का हो अन्त,
हंव जिस पर कैक्यी के दंत!
किंतु राजे राम-राज्य नितान्त,
विश्व के विद्रोह करके शांत!

यदि राजा आदर्श से स्खलित हो जाए, वह राज्य पर दाँत रख निकले, तो अवश्य उस राज्य का अन्त कर देना चाहिए! परन्तु क्रान्ति का उपयोग केवल शान्ति व्यवस्था के लिए ही उचित है। कुराज्य का अन्त होना चाहिए, राज्य का नहीं—राम राज्य तो सर्वथा स्पृहणीय है! इस प्रकार कवि राज्य का ही नहीं साम्राज्य का भी समर्थन करता है। समग्र राष्ट्र के कल्याण के लिए एक राज्य होना उचित है क्योंकि

एक राज्य न हो बहुत से हों जहाँ
राष्ट्र का बल बिखर जाता है वहां!

भारतीय संस्कृति भी इसका अनुमोदन करती है!—राज्य में शान्ति की व्यवस्था करने के लिए युद्ध—शस्त्र-बल भी

आवश्यक होता है

इसी हेतु है जन्म टंकार का
न टूटे कभी तार झंकार का !

परन्तु उसका उपयोग यहीं तक सीमित रहना चाहिए। कवि का कहना है कि वैसे तो—

यही ठीक टंकार सोती रहे
सभी ओर झंकार होती रहे।
सुनो किन्तु है लोभ संसार में,
इसी हेतु है क्षोभ संसार में !
हमें शान्ति का भार जो है मिला
इसी चाप की कोटियों से झिला।

इस प्रकार चाप का प्रयोग भी जीवन के लिए अनिवार्य है। शान्ति का भार झेलने के लिए पुरुषार्थ चाहिये।

भौतिक जीवनः—भारतीयों का आदर्श त्याग और तप अवश्य रहा है परन्तु जीवन में आनन्द का उपभोग करना वे लोग सभी जानते थे। भुक्ति और मुक्ति के उचित सामञ्जस्य द्वारा ही उनके जीवन में सुख शान्ति का प्रसार होता था—'भुक्ति मुक्ति का योग जहां पर मिला जुला है।' उनका भौतिक वैभव अपार था, हमारे यहाँ की भौतिक सभ्यता भी अत्यन्त सम्पन्न थी। भारत की सुख-श्री पर विदेशी ईर्ष्या करते थे। साकेत की पृष्ठभूमि में जिस भौतिक जीवन का चित्र है, वह उसके अनुरूप ही है! राजा ही नहीं प्रजा का भी वैभव अतुलनीय था। शत्रुघ्न द्वारा

साकेत की समृद्धि का वर्णन उसका उदाहरण है! ज्ञान विज्ञान कला-कौशल सभी का चरम उत्कर्ष दिखाया गया है। ज्ञानी-विज्ञानी नित्य नवीन सत्यों की शोध करते थे—सर्व साधारण की ज्ञान वृद्धि हो रही थी। लेखक जहां तहां जाकर लोगों के अनुभव लिखा करते थे। कवि-कोविद नित्य नये वृत्तों में गीत रचना करते थे। ललित कलाएँ अपने पूर्ण विकास को प्राप्त थीं—संगीत, नाटक, चित्र, शिल्प, वस्तु सभी अपने यौवन में थे। वैद्य नवीन वनस्पतियों की खोज करते थे। सौगन्धिक नवनव सुगन्धियाँ निकाल रहे थे। तन्तुवाय नये नये पट-परिधान बुन रहे थे जो रखने में फूलों के दल से थे और फैलाने में गन्ध के सदृश! स्वर्णकार, लौहकार सभी कर्म-रत थे। वसुधा-विज्ञ नवीन खानों की खोज कर रहे थे। श्रमी कृषक बीज-वृद्धि का इतिहास रखते थे। उधर गोवंश-विकास भी हो रहा था। नए नए अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार हो रहा था। साकेत-वासियों का दैनिक जीवन भी आदर्श था। प्रातःकाल प्रभातियाँ होती थीं; सूर्योदय होते ही सर्वत्र शास्त्र-मंथन और दधि-विलोड़न होता था। सभी परिवारों में तोता मैना आदि पाले जाते थे जिनसे सद्गृहस्थों का विनोद होता था। उनके निवास-स्थान भारतीय वस्तु-कला के सच्चे निदर्शक थे। कवि ने साकेत नगरी के चित्रों में कलश, छज्जे, शालाएँ, इन्द्रधनुषाकार तोरण, सौध, सिंह-द्वार आदि भारतीय वस्तुकला के प्रमुख तत्वों का स्थान स्थान पर वर्णन किया है। नगर में सभी कहीं सुसंवत के निद-

शंक अध्वर-यूप दृष्टि-गत होते थे, उनके पास में ही वेदियाँ थीं। यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तम्भ बने हुए थे जिनमें सविवरण ऐतिहासिक वृत्त खुदे हुए थे !

ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं
जो सुसंवत के निदर्शन-रूप हैं।
राघवों की इन्द्र-मैत्री के बड़े
वेदियों के साथ साक्षी से खड़े,
मूर्तिमय विवरण समेत जुदे जुदे
ऐतिहासिक वृत्त जिनमें हैं खुदे
यत्र तत्र विशाल कीर्ति स्तम्भ हैं
दूर करते दानवों का दम्भ हैं।

धर्म-परायण राजा की पूजा होती थी। पौर-कन्याएं राजा पर खील फूल आदि की वर्षा किया करती थीं। उसका अपना वैभव भी अपरिमेय था—साकेत में उसके भी सुन्दर चित्र है। अभिषेक-मण्डप का एक चित्र देखिए—

दीर्घ खम्भे हैं बने वैदूर्य्य के,
ध्वज-पटों में चिन्ह कुल गुरु सूर्य के।
बज रही है द्वार पर जय-दुन्दुभी,
और प्रहरी हैं खड़े प्रमुदित सभी।
क्षौम के छत में लटकते गुच्छ हैं,
सामने जिनके चमर भी तुच्छ हैं।

सम्पन्न भारत का चित्र कितना दिव्य है। इस प्रकार साकेत

में भौतिक जीवन की जो पृष्ठ-भूमि है वह सर्वथा भारतीय संस्कृति की अभिवाहक है। संस्कृति की वाहक है सभ्यता, और सभ्यता की अभिव्यक्ति भौतिक जीवन के द्वारा होती है। उसका सफल अंकन संस्कृति का सफल निदर्शन है।

अन्त में साकेत में भारतीय संस्कृति को सम्पूर्ण रूप में ग्रहण किया गया है। संस्कृति का स्वरूप सदैव एक सा नहीं रहता। उसमें समय के अनुसार परिवर्तन होते रहते हैं। परन्तु यह केवल वाह्य उपकरणों के विषय में सत्य है। संस्कृति के अन्तर्तत्व एक वार प्रतिष्ठित हो जाने पर फिर सदा स्थिर रहते हैं। भारतवर्ष में वैदिक, वौद्ध, ब्राह्मण, ग्रीक पौराणिक, मुस्लिम और अन्त में पाश्चात्य यूरोपियन आदि अनेक संस्कृतियों का जमघट रहा। अतएव भारतीय संस्कृति में देश-काल के अनुसार परिवर्तन होना स्वाभाविक है। फिर भी उसका मूल-रूप सुरक्षित रहा है—यद्यपि मध्यकालीन अधः पतन और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण ने उसको वहुत क्षति पहुंचाई है। क्रान्ति के इस युग में प्राचीन संस्कृति के गौरव को अक्षय्य रखने का सबसे वड़ा दायित्व कवियों पर है और इस दायित्व को जिस कवि ने जितना पूरा किया है, उतना ही वह कवि भारतीय है। साकेत का कवि ऐसा ही सर्व-दृष्टा भारतीय कवि है। उसकी सार-ग्राहिणी कवि-दृष्टि ने अपूर्व क्षमता के साथ भारतीय संस्कृति के मूल तत्वों को पहिचान कर उनकी प्रतिष्ठा की है, साथ ही स्वस्थ विदेशी प्रभावों का भी भारतीय आदर्शों से समन्वय किया है। साकेत में प्राचीन और नवीन का सामञ्जस्य इस प्रकार हुआ है कि नवीन अपने

प्राचीन का एक अंग ही बन गया है। नवीन के लिए उसने सर्वत्र प्राचीन आधार ही चुना है, इसीलिए वह उधार लिया हुआ नहीं लगता। प्राचीन में जो बुरा है वह उसे मान्य नहीं, नवीन में जो अच्छा है वह उसे अमान्य नहीं।

गांधीवाद का प्रभाव:— इस समन्वय में गुप्तजी गांधी-नीति से प्रभावित हैं। आज से दस वर्ष पूर्व जब कि साकेत का निर्माण हुआ था, यद्यपि गांधी के विचारों का तत्वरूप में दोहन नहीं किया जा सका था, परन्तु फिर भी वह एक ऐसी शक्ति थी जो भारतवर्ष को समग्र रूप में आच्छादित किए हुए दिग्-दिगन्त तक प्रसारित थी। प्रत्येक भावुक विचारक जिसका कुछ भी स्पर्श देश की स्थिति से था, उसकी ओर श्रद्धा से आकृष्ट हुआ। साकेतकार पर गांधी-नीति का बहुत गहरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। साकेत उस युग की कृति है जो आज समाप्त-प्राय: है, जिसकी अनुभूतियाँ और प्रवृत्तियाँ आज आउट ऑव-डेट हो चुकी हैं, जिनकी उपयोगिता पर आज प्रश्न-सूचक चिन्ह लगा हुआ है। वह युग सौ फीसदी गांधी-युग था—अत साकेत की संस्कृति पर गांधीवाद का रंग है। गांधीवाद का आध्यात्मिक आधार है मानव-स्वभाव पर अटल विश्वास। उसका कहना है कि सारी दुनिया का मूल स्रोत सत्य है। दुनिया के अणु-अणु में, इन भिन्न-भिन्न रूपों और आकार-प्रकारों में वही सत्य पिरोया हुआ है। इसका यह अर्थ हुआ कि सब जीव-मात्र, मनुष्य-मात्र एक ही सत्य के अंश हैं। असल में एक रूप

हैं; हम सब का नाता आत्मीयता का है। अतः हमारा पारस्परिक सम्बन्ध प्रेम का, सेवा का, सहयोग का, सहिष्णुता का और उदारता का ही हो सकता है—न कि द्वेष का, विरोध का, अथवा छोटे-बड़े का। ये दो गांधीवाद के ध्रुव सत्य हैं जिन्हें गांधीजी क्रमशः सत्य और अहिंसा कहा करते हैं। इनका क्रियात्मक स्वरूप है—उन्हीं के शब्दों में, सत्याग्रह, अर्थात् सत्य की शोध के लिए सत्य का आग्रह। जैनेन्द्रजी के शब्दों में गांधीवाद का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—(१) ध्येय—सत्य (प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर है। (२) धर्म—अहिंसा (जो निषेधात्मक न होकर भावात्मक शक्ति है) (३) कर्म—सत्याग्रह अर्थात् जो अप्राप्त सत्य है उसकी ओर बढ़ना—प्रगतिशील रहना। इसका व्यक्त मूर्त-रूप है दरिद्र-नारायण की सेवा जिसमें चरखा, ग्रामोद्योग, हरिजन-आन्दोलन आदि सभी का समावेश हो जाता है। सत्य की प्राप्ति में ज बाधा-व्यवधान पड़े उस पर तपस्या के द्वारा—अपने को कष्ट देकर विजय प्राप्त करनी चाहिए। वही विजय स्थायी होगी।

इस सत्य अर्थात् सर्वोदय, अर्थात् मानव की आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति के लिए क्रान्ति भी एक साधन है। परन्तु क्रान्ति का उद्देश्य केवल शान्ति-स्थापन ही होना चाहिए। सर्वोदय के लिए राम-राज्य की आवश्यकता है जिसका कार्य जनता पर शासन करना नहीं वरन् उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना होगा। उसका यह दायित्व होगा कि वह स्वस्थ, स्वावलम्बी,

परस्पर सहयोगी, आत्म-रक्षा क्षम, सुसंस्कृत, श्रमशील, निर्भय और प्रसन्न मानव-समाज का निर्माण और उसकी व्यवस्था करे। अतः वहाँ जाति या श्रेणी का प्रश्न ही नहीं उठेगा।

उपर्युक्त विवेचन के प्रकाश में अब हमें देखना चाहिए कि साकेत के सांस्कृतिक-आधार में गांधीवाद के तत्वों का समावेश कितना है। सब से पहिले तो उसका तात्विक रूप लीजिए। तत्व-रूप में अर्थात् ईश्वर और जीव सम्बन्धी बिचारों में साकेतकार गांधीजी से करीब करीब न के बराबर प्रभावित है। गुप्तजी की भक्ति का दार्शनिक आधार सुदृढ़-दृढ़ और सर्वथा स्थूल (मूर्त है)—उसमें रहस्यवाद के लिए स्थान नहीं। अतः सत्य की सत्ता को उसी रूप में स्वीकार करते हुए भी वे ईश्वर को केवल सत्य-रूप ही नहीं मानते। वह इससे भी कहीं अधिक है। उसका सगुण-स्वरूप अमूर्त सत्य में नहीं समा सकता। हाँ, साकेत के राम में जो सेवा-भावना की प्रधानता है वह कवि ने गांधी-दर्शन से ही प्राप्त की है—

'सुख देने आया, दुःख झेलने आया!
× × ×
मैं यहाँ जोड़ने नहीं, बाँटने आया!
× × ×
सुख-शांति हेतु मैं क्रान्ति मचाने आया!
विश्वासी का विश्वास बचाने आया!!

मैं आया उनके हेतु कि जो तापित हैं,
जो विवश विकल बल हीन दीन शापित हैं।
संदेश यहाँ मैं नहीं स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया!

'मानस' के राम भी 'धर्म-संस्थापनाय'—एवं भू-भार हरने को अवतरित होते हैं—परन्तु उनमें 'संरक्षा' का भाव प्रधान है, साकेत के राम में सेवा-वृत्ति की प्रधानता होना गांधी नीति के ही प्रभाव का परिणाम है! गांधीवाद के कार्मिक (व्यवहार-गत) स्वरूप से गुप्तजी पूर्णरूप से सहमत हैं—साकेत में उसकी प्रतिध्वनि स्थान-स्थान पर मिलती है। गांधीजी का राम-राज्य ही लगभग साकेत का राम-राज्य है यद्यपि साकेत के राजा की स्थिति गांधीजी के राजा की स्थिति से दृढ़ है। दोनों में राजा की विशेषताएं एक हैं—'नियत शासक लोक सेवक-मात्र'—अथवा 'राज्य में दायित्व का ही भार' तो मानो महात्माजी के ही शब्दों की ध्वनि है! इसी प्रकार 'प्रजा की थाती रहे अखण्ड' में गांधीजी के 'ट्रस्टी' शब्द का ही व्याख्यान है! उधर महात्माजी के विनत-विद्रोह का प्रयोग कवि ने देश-काल के बंधन को भी तोड़ कर कराया है। सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी के दरिद्र-देव की सेवा और परिवार-न्याय दोनों का साकेत में दिव्य आख्यान है; और सीता तो उनकी चर्खा-योजना का भी प्रचार करती मालूम पड़ती हैं—

तुम अर्ध-नग्न क्यों रहो अशेष समय में,
आओ हम कातें-बुनें गान की लय में।

साकेत की देश-भक्ति भी गांधीजी की देश-भक्ति की तरह निश्चित् रूप से धार्मिक है! अन्याय और अधर्म कवि को किसी प्रकार भी सह्य नहीं—

पर वह मेरा देश नहीं जो करे दूसरे पर अन्याय।

वह एक प्रकार से विश्व-बन्धुत्व की सीमा से जाकर मिल जाती है—या यों कहें कि उसकी देश-भक्ति विश्व-भावना का ही एक रूप है। साकेत में मानव-मात्र के परित्राण की कामना के अन्तर्गत ही देश-भक्ति का समावेश किया गया है—

किसी एक सीमा पर बँध कर रह सकते हैं क्या ये प्राण;
एक देश क्या अखिल विश्व का तात चाहता हूँ मैं त्राण।

महात्माजी की अहिंसा का प्रभाव भी साकेत की संस्कृति पर स्पष्ट है—उसके युद्धोत्साह में समर्पण—त्याग की भावना अधिक है, दमन की इतनी नहीं—

'जाओ बेटा राम-काज क्षण-भंग शरीरा!'

परन्तु हिंसा की सर्वथा अमान्यता से साकेतकार सहमत नहीं है—

हमें शांति का भार है जो मिला
इसी चाप की कोटियों से मिला!

वैसे तो गांधीजी की अहिंसा में भी युद्ध को स्थान है—परन्तु साकेत में उसकी आवश्यकता अधिक पौज़िटिव है।

समग्र रूप में—हम कह सकते हैं—कि साकेतकार महात्माजी की अपेक्षा प्राचीनता की ओर अधिक आकृष्ट है—

परन्तु फिर भी साकेत गांधी-युग की ही रचना है इसमें कौन संदेह करेगा ? वास्तव में उसके विचारों की आधार-शिला गांधी-युग से पूर्व ही दृढ़ हो चुकी थी—इसीलिए वह गांधीवाद के तात्विक रूप को न अपना कर केवल उसका व्यावहारिक रूप ही ग्रहण कर सका ! यह पूर्ति उनके अनुज श्री सियारामशरण ने की !

अपनी संस्कृति का प्रभाव तो सभी कवियों पर थोड़ा-बहुत पड़ता है, परन्तु जिन मनस्वियों की कविता लोक-मंगल से प्रेरित हो कर अपने देश और जाति की संस्कृति की प्रतिष्ठा एवं संरक्षा करती है. वे अनेक नहीं होते । हमारे तुलसी, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त ऐसे ही कवि हैं ।

चरित्र-चित्रण

चरित्र प्रधान काव्य— साकेत चरित्र-प्रधान काव्य है . उसमें उर्मिला का चरित्र लक्ष्मण, राम, सीता, भरत, कैकेयी, कौशल्या, सुमित्रा आदि पात्रों के बीच विकसित होता है। ऐसे काव्य की सफलता के लिये यह वाञ्छित है कि उसके सभी पात्र मुख्य पात्र के चरित्र पर घात-प्रति-घात द्वारा प्रभाव डालें तथा कभी परिस्थिति और कभी पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित होकर उसको प्रकाश में लावें ! साकेत का चरित्र-चित्रण इस कसौटी पर खरा उतरता है ! उसके सभी पात्रों का उर्मिला के चरित्र-विकास से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष सम्बन्ध है ! कवि इस विषय में सदैव सतर्क रहा है ! लक्ष्मण का जीवन तो उसके जीवन से प्रकाश से छाया की भाँति लिपटा हुआ है ही—उनकी निर्भय वीरवृत्ति का उसके चरित्र-विकास से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है ! उधर

राम की कर्त्तव्य—परायणता, सीता की एकान्त पति-लीनता, भरत की साधुता, कैकेयी का क्षुधित पुत्र-स्नेह और सुमित्रा का उग्र मातृत्व भी उसके चरित्र-विकास में सहायक होते हैं। लक्ष्मण, राम, कैकेयी और सुमित्रा के चरित्र उसके लिए परिस्थिति उपस्थित करते हैं उधर सीता माण्डवी और भरत कभी उसकी परिस्थिति पर प्रभाव डालते हैं, और कभी पृष्ठभूमि के रूप में आते हैं। इस प्रकार इन भिन्न-भिन्न पात्रों को स्पर्श करता हुआ उर्मिला का चरित्र आगे बढ़ता है!

कथा और प्रधान पात्र का सम्बन्धः— प्रधान पात्र के चरित्र से कथा की भिन्न-भिन्न घटनाओं का सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कवि को प्रयास करना पड़ा है क्यों कि रामायण की सभी घटनाएं राम से ही सम्बद्ध हैं! परन्तु फिर भी जिस कौशल से यह सब किया गया है वह कवि की प्रबन्ध-पटुता का द्योतक है, कथावस्तु के प्रसंग में इसका विवेचन हो ही चुका है!

साकेत के चरित्रों के प्रकार:— रामायण के पात्रों का विवेचन करते समय आचार्य शुक्ल ने दो प्रकार के चरित्रों की ओर निर्देश किया है—आदर्श और साधारण। मुझे इनको मानवीय और अमानवीय चरित्र कहना अच्छा लगता है! साकेत में अमानवीय चरित्र राम ही हैं—वे भी इसलिए कि आस्तिक कवि उनके गौरव से अभिभूत है—अन्यथा इस वैज्ञानिक युग के प्रतिनिधि कवि के लिए अमानवीय चरित्रों के सृजन में आनन्द लेना साधारणतः स्वाभाविक नहीं! यही कारण है कि साकेत

के रावण और मेघनाद दोनों में कोई बात अमानवीय नहीं है। राम के अतिरिक्त सभी अन्य चरित्रों में देवत्व और दनुजत्व का असमान मिश्रण है। भरत देवत्व के बहुत निकट होते हुए भी दनुजत्व से सर्वथा अस्पृष्ट नहीं हैं। कैकेयी का दनुजत्व उनके दनुजत्व को कुछ क्षणों के लिए जागृत कर ही देता है। रावण और मेघनाद में दनुजत्व का अंश अधिक है, परन्तु देवत्व बिल्कुल न हो यह बात नहीं। रावण की सहृदयता पर एक बार राम स्वयं मुग्ध हो जाते हैं, मेघनाद पर तो कवि का काफी ममत्व है! हाँ राम में दनुजत्व का सर्वथा अभाव है—परन्तु मानवोचित दुर्बलताएं उनमें भी हैं—उनके अन्दर मोह एकाधिक बार प्रबल हो उठा है—

आता है जी में तात यही,
पीछे पिछेल व्यवधान मही
झट लोटूं चरणों में आकर !

परन्तु उस पर तत्काल विजय प्राप्त करने का बल भी उनमें हैं—वह है धर्म—

पर धर्म रोकता है वन में

इसीलिए वे मानवत्व की कोटि से ऊपर उठ जाते हैं। साथ ही स्वयं कवि ने तुलसी की भाँति बारबार उनके ईश्वरत्व का स्मरण कराने का प्रयत्न भी किया है। यह उसकी अपनी कमजोरी है। वास्तव में गुप्तजी का कवि तो राम के मानवत्व पर ही मुग्ध है—परन्तु उनके अन्दर बैठा हुआ भक्त, राम के

ईश्वरत्व से डरता है। इसीलिए उसे बार-बार कीर्तन भी करना पड़ा है जो संगत नहीं हुआ!

साधारण अथवा मानव पात्रों में एक भेद और मिलता है, वह है संस्कार और परिस्थिति का! "संसार के रंगमंच पर जो पात्र उतरते हैं उनमें कुछ ही ऐसे होते हैं जो सीखे सिखाये आते हैं। अधिकांश को यहीं सीखना पड़ता है। रामायण के अधिकांश पात्र प्रथम प्रकार के हैं।" (गुप्त जी का एक पत्र) कहने का तात्पर्य यह है कि कुछ में संस्कार का प्राधान्य होता है और कुछ में परिस्थिति का। संस्कार-प्रधान पात्रों पर परिस्थिति का प्रभाव अधिक नहीं पड़ता, वे प्रारम्भ से ही गड़े गढ़ाए होते हैं, अतः उनके चरित्र में विकास की गुंजायश नहीं होती—उनके चरित्रों में एक ही रंग होता है! साकेत के भरत, सीता, कौशल्या, माण्डवी, शत्रुघ्न, सुमित्रा—पात्र ऐसे ही हैं। उनका चरित्र एकसा ही रहता है। ऐसे चरित्रों के चित्रण में कवि को बड़ा सतर्क रहना पड़ता है। प्रत्येक परिस्थिति में ये पात्र अपने व्यक्तित्व को ज्यों का त्यों बनाए रहते हैं—उनका एक वाक्य भी इधर-उधर नहीं होता! उदाहरण के लिए साकेत की सुमित्रा को लीजिए। राम-वन गमन के अवसर पर वह जिस कठोर मातृत्व का परिचय देती है, वह लक्ष्मण-शक्ति का दृश्य देख कर भी ठीक वैसा ही बना रहता है। उसके स्वर में तनिक भी लोच नहीं आता। इसी प्रकार माण्डवी के चरित्र में केवल एक रेखा है। कौशल्या की उदारता और भोली वात्सल्य-

भावना सभी परिस्थितियों में एक सी रहती है !

'मेरा राम न वन जावे यहीं कहीं रहने पावे। [चतुर्थ सर्ग]

और —

हाय गए सो गए रह गए सो रह जावें
जाने दूँगी तुम्हें न, वे आवें जब आवें। [द्वादस सर्ग]

में अणुमात्र भी अन्तर नहीं।

दूसरे प्रकार के पात्र वे हैं जिनमें संस्कार इतने प्रबल नहीं हैं कि परिस्थितियों का प्रभाव उन पर न पड़ सके ! उनका चरित्र परिस्थितियों के घात-प्रतिघात द्वारा उठता गिरता है। यदि उनके संस्कार शुद्ध हैं तो चरित्र उठेगा नहीं नीचे फिसलता जायगा। साकेत में उर्मिला, लक्ष्मण और कैकेयी ये तीन पात्र ऐसे ही हैं। उर्मिला के चरित्र का विकास परिस्थितियों के प्रतिघात से होता है और उसकी त्याग-वृत्ति धीरे धीरे उन पर विजय-लाभ करती हुई आदर्श की ओर बढ़ती है। उसका आदर्श आत्म-त्याग संस्कार रूप में उसे प्राप्त नहीं है—वह धीरे धीरे विकसित होता है ! पहिले तो वह उस त्याग को विवश भाव से ही मानती है, परन्तु बाद में जाकर वह सती और लक्ष्मी को भी पीछे छोड़ देती है—अन्त में लक्ष्मण के दर्शन पाकर उसका नारीत्व फिर जागृत हो जाता है और लक्ष्मण के यह कहने पर भी कि 'धन्य अनावृत प्रकृत-रूप यह मेरे आगे' उसे यही चिंता होती है किन्तु कहाँ वे अहोरात्र के साँझ सवेरे।' इसी प्रकार कैकेयी का चरित्र भी परिस्थितियों द्वारा निर्मित है। मंथरा उसके लिए परिस्थिति

का सृजन करती है, और वह विरोध करने पर भी उसके वशीभूत हो जाती है। परन्तु दशरथ की मृत्यु होते ही परिस्थिति फिर बदलती है और रानी का संस्कार प्रबल होने लगता है—

रोना उसको उपहास हुआ
निज कृत वैधव्य-विकास हुआ,
तब वह अपने से आप डरी,
किस कुसमय में मंथरा मरी !

तभी से प्रायश्चित का प्रारम्भ होता है जो भरत के शब्दों द्वारा तीव्रतर होता हुआ चित्रकूट में जाकर पूर्ण हो जाता है ! यह बात लक्ष्मण के चरित्र में और भी स्पष्ट है। उनके लिए परिस्थिति हैं राम जिनके प्रभाव वश वे धीरे धीरे संयत होते जाते हैं। कवि ने लक्ष्मण और कैकेयी के चरित्रों में संस्कार और परिस्थिति का संघर्ष बड़ी कुशलता से प्रदर्शित किया है। इन दोनों के चरित्रों में उनके संस्कारों को विषम परिस्थितियों के आघात सहने पड़ते हैं। उर्मिला का संस्कार केवल नारी की दुर्बलता मात्र है जो पति की गौरव-भावना के सम्मुख सहज ही नत शिर हो जाती है—अतः वहां यह संघर्ष, विरोध की मात्रा उतनी तीव्र न होने के कारण, इतना स्पष्ट नहीं है ! वास्तव में उन दोनों चरित्रों के विकास की रेखाएँ बड़ी पुष्ट हैं। चरित्र-विकास के इतने स्पष्ट उदाहरण काव्य में अधिक नहीं मिलेंगे।

संस्कार और परिस्थितियों के अतिरिक्त कवि की अपनी भावनाएँ भी चरित्रों पर प्रभाव डालती हैं। ऐसे लेखक बहुत

कम होते हैं जो अपने व्यक्तित्व को सर्वथा निर्लिप्त रखते हुए पात्रों को रंग-मंच पर स्वतंत्र छोड़ देते हों। फिर गुप्तजी ठहरे आदर्शवादी भक्त—अतः उनसे यह आशा करना व्यर्थ है। उनके सभी पात्र आदर्श की ओर उन्मुख रहते हैं। साथ ही उनकी अपनी भावनाओं की प्रतिध्वनि भी यत्र-तत्र मिलती रहती है। हनूमान और भरत में कवि प्रायः स्वयं आकर बोला है, और विभीषण का चरित्र तो उसके अपने विचारों का ही प्रतिबिम्ब है। कवि स्पष्टतः विभीषण को पीछे हटा कर आप उसकी ओर से सफाई दे रहा है। उधर लक्ष्मण, कैकेयी आदि के लिए भी उसे किसी न किसी रूप में कई बार बोलना पड़ा है।

दोष परिहार की प्रवृत्तिः— कवि की यह दोष-परिहार की प्रवृत्ति इस युग की विभूति है। मानव दुर्बल प्राणी है। उसकी दुर्बलताएँ स्वभावगत हैं—अतः उनके साथ सहानुभूति प्रकट करनी चाहिए। घृणा करने से उनका परिष्कार नहीं हो सकता। आधुनिक युग की यही प्रमुख भावना साकेत के सदोष पात्रों के चित्रांकन में सदैव सचेत रही है। हमारे दोष किसी स्वाभावगत विशेषता के ही विकृत परिणाम होते हैं। यह एक स्वीकृत सत्य है। इसीलिए कवि को उनकी मूल-वर्तिनी भावना की खोज करनी पड़ी है। यहाँ पात्र के स्वर में स्वयं कवि का अपना स्वर स्पष्ट सुनाई देता है। एक उदाहरण मेरे कथन को पुष्ट कर देगा। साकेत के लक्ष्मण कुछ अधिक स्वच्छन्द हैं। उनमें क्रान्ति की भावनाएँ वर्तमान हैं। वे कैकेयी, सीता, दशरथ तीनों से कटु-

वाक्य कहते हैं। यह उनका अपराध है, और इसके लिए वे दोषी हैं। कवि जानता है कि पाठक लक्ष्मण के इस अपराध पर क्षुब्ध होगा, अतः वह उस अपराध की मूल-वर्तिनी भावना की ओर जाता है। यह भावना है राम के प्रति प्रेम जो आत्म-समर्पण की सीमा तक पहुंच गया है। अतः वे जो कुछ करते या कहते हैं, वह अपने लिए नहीं, राम के लिए। ऐसी दशा में उनका अपराध स्वार्थ-मूलक नहीं है। स्वार्थ के लिए किया हुआ दोष घृण्य है, परन्तु स्वार्थ-भावना से मुक्त दोष, दोष नहीं, वरन बहकी हुई मनोवृत्ति ही है। इसलिए वह राम के द्वारा लक्ष्मण के चरित्र का विश्लेषण कराता है। लक्ष्मण जब पिता से कटु शब्द कहते हैं, तो राम उनको समझाते हैं—

मुझे जाता समझ कर आज वन को
न यों कलुषित करो प्रेमान्ध मन को।
तुम्हीं को तात यदि वनवास देते,
उन्हें तो क्या तुम्हीं यों त्रास देते॥

अन्तिम दो पंक्तियों में राम का लक्ष्मण को समझाना मात्र नहीं है—वहाँ स्पष्ट रूप में कवि लक्ष्मण के दोष-परिहार का प्रयत्न कर रहा है। दशरथ इस बात को और साफ कर देते हैं:—

स्वयं निस्वार्थ हो तुम नीति रक्खो;
न होगा दोष कुछ कुल-रीति रक्खो।

अब भी यदि पाठक क्षुब्ध होता है तो कवि कह सकता है—"मुझे चिन्ता नहीं, मेरे लक्ष्मण को दशरथ ने तो समझ लिया।

बस यही काफी है।"

पात्रों का व्यक्तित्व:— परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि ये पात्र प्रतिध्वनि मात्र ही हैं और उनका अपना व्यक्तित्व नहीं है। साकेत का एक-एक पात्र अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व रखता है। उर्मिला, भरत, लक्ष्मण, कैकेयी, सीता, आदि प्रमुख चरित्रों का व्यक्तित्व तो स्पष्ट है ही, माण्डवी, शत्रुघ्न, सुमित्रा, हनुमान, विभीषण आदि की भी व्यक्तिगत विशेषताएँ असंदिग्ध हैं। इन गौण चरित्रों में माण्डवी का चित्र तो अद्भुत है। उसके व्यक्तित्व की रेखाएें तो असामान्य रूप से पुष्ट हैं। शत्रुघ्न और सुमित्रा के विषय में भी यही कहा जा सकता है। आप उनके शब्दों को सुन कर ही वक्ता का अनुमान लगा सकते है! अंतिम सर्ग में भरत और शत्रुघ्न के वक्तव्य करीब-करीब मिले-जुले हैं, परन्तु उनके चरित्रों से अभिज्ञ पाठक तुरन्त ही वक्ता को पहिचान सकता है। माण्डवी, उर्मिला, सीता तीनों बहिनें हैं परन्तु कितनी भिन्न! सुमित्रा कैकेयी और कौशल्या का मातृत्व भी कितना भिन्न है। कहीं-कहीं यह अन्तर बड़ा सूक्ष्म है। उदाहरण के लिए लक्ष्मण और शत्रुघ्न में। दोनों भाइयों ने उग्र क्रांतिकारी भावनाएं माता से प्राप्त की हैं—उनमें यह समानता काफी गहरी जाती है—परन्तु फिर भी लक्ष्मण और शत्रुघ्न दो पृथक व्यक्ति हैं। लक्ष्मण और शत्रुघ्न में अन्तर है भावुकता का। इस प्रकार स्वतंत्र व्यक्तित्वशाली ये सभी पात्र जीवन से ओत-प्रोत हैं!

व्यक्तिगत विशेषताओं के अतिरिक्त उनमें जातिगत विशेष-

ताएं भी अनिवार्य रूप से मिलती हैं—कैकेयी, माण्डवी, सीता, उर्मिला सभी में स्त्रियोचित भावनाएं स्थान-स्थान पर मिलेंगी। कैकेयी की सापत्न्य, मातृत्व, भाई पर गर्व—आदि भावनाएं स्त्री की स्वाभाविक भावनाएं हैं! उर्मिला अन्त तक नारी ही बनी रहती है। लक्ष्मण, शत्रुघ्न और सुमित्रा का क्षत्रियत्व उनकी जातिगत सम्पत्ति है। भरत जैसा निस्पृह साधु भी क्षत्रियत्व से शून्य नहीं है! उधर सुमित्रा, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के स्वभावों में प्रधान तत्व की समानता द्वारा कवि ने वंशक्रमागत विशेषता का सूत्र भी रखा है! यह सूत्र कौशल्या और राम के स्वभाव में भी मिलता है। माता और पुत्र दोनों में क्षमावृत्ति की समानता है। दूसरे के दोषों का अच्छा अर्थ निकाल कर उन्हें सर्वथा भुला देने की साधु-प्रवृत्ति राम और कौशल्या दोनों में पाई जाती है। वन-गमन का आदेश सुन कर दोनों कैकेयी के विषय में एक ही बात कहते हैं—

'पुत्र-स्नेह धन्य उनका
हठ है हृदय-जन्य उनका! (कौशल्या)
मां ने पुत्र-वृद्धि चाही
नृप ने सत्य-सिद्धि चाही! (राम)

पश्चिम में चरित्र-चित्रण की यह अत्यन्त प्रचलित प्रणाली है!

स्वाभाविकता:—सजीव पात्र स्वाभाविक भी हों यह आव-

श्यक नहीं—विशेषकर महाकाव्य के पात्रों में स्वाभाविकता सर्वत्र नहीं मिल सकती। उसकी प्रकृति में अलौकिक के लिए स्थान होने के कारण—उसके पात्र भी प्रायः अलौकिक शक्तियों से युक्त होते हैं। परन्तु जैसा कि मैं पूर्व ही कह चुका हूँ, साकेत का कवि वैज्ञानिक युग का कवि है—अतः उसके पात्रों में अलौकिक गुण सम्भावना से परे नहीं मिलते। हाँ, साकेत के प्रायः सभी चरित्र हमारे साधारण जीवन से ऊपर हैं—उनमें असाधारणताएं हैं जो हमारे हृदय में विस्मय, श्रद्धा, और किञ्चित भय का भी संचार करती हैं, परन्तु अस्वाभाविकता कहीं नहीं है। उर्मिला और भरत जैसे मनुष्य भी हमारे लोक-जीवन में मिल ही जाते हैं। इसका कारण यह है कि कवि ने चरित्र के सभी अंगों का विश्लेषण किया है। मनुष्य के श्वेत, श्याम दोनों पहलुओं पर प्रकाश डाला है। उसकी कैकेयी में ये दोनों रेखाएँ बड़े सुन्दर ढंग से मिली-जुली हैं। भरत जब कैकेयी को भर्त्सना देते हुए कहते हैं—

धन्य तेरा क्षुधित पुत्र-स्नेह,
'खा गया जो भून कर पति-देह।

तो वह एक साथ मानों लाञ्छिता रानी के शब्दों में कह उठता है—

चुप अरे चुप, कैकयी का स्नेह,
जान पाया तू न निस्सन्देह।
पर वही यह वत्स तुझ में व्याप्त,
छोड़ता है राज-पद भी प्राप्त।

इसका कारण यह है कि कवि मानव-चरित्र की जटिलताओं को भली भाँति पहिचानता है और साथ ही उनका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करने में पूर्णतया समर्थ है। मानसिक संघर्षों और हृदय की संगुफित अंतर्वृत्तियों को गुप्तजी की सूक्ष्म दृष्टि बड़े कौशल से सुलझाना जानती है। उर्मिला के चरित्र-विकास में अर्ध-विस्मृत अवस्था का सफल विश्लेषण इसका साक्षी है। विरह-वर्णन के प्रसंग में 'आओ' और 'जाओ' के इस संघर्ष की व्याख्या की जा चुकी है। कभी कभी जटिलताओं के उपस्थित हो जाने पर कैकेयी जैसे पात्र अपने भावों का बड़ा सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक व्याख्यान करते हैं। एक उदाहरण लीजिए—कैकेयी भरत को क्या—समस्त संसार को—अपने कृत्यों की सफाई दे रही है—

सब करें मेरा महा अपवाद,
किन्तु तू तो कर न हाय प्रमाद!
हो गए थे देव जीवन्मुक्त,
उचित था जाना न ऋण-संयुक्त।
ले लिए इस हेतु वर युग-लभ्य,
उचित मानेंगे इसे सब सभ्य!
क्या लिया बस है यहाँ सब शल्य,
किन्तु मेरा भी यहाँ वात्सल्य!

साथ ही, कब किसको कैसा उत्तर देकर प्रभावित किया जा सकता है, इसका सूक्ष्म परिज्ञान भी साकेत के सभी पात्रों को है।

'संवाद' के विवेचन में इसका और स्पष्टीकरण हो जायगा।

चरित्र-चित्रण की शैली:—उपन्यास लेखक की भांति प्रवन्ध-काव्य-कार को भी प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूप में चरित्र-चित्रण करने की सुविधा रहती है। वह स्वयं अपनी ओर से पात्रों के विपय में कह सकता है, साथ ही आपके सम्मुख उनको काम करते और कहते सुनते हुए उपस्थित करके आपको भी उनके विपय में अपनी धारणा वनाने का अवसर दे सकता है। पहिले रूप में वह स्वयं वोलता है दूसरे में उसके पात्र की करतूतें वोलती हैं। सजीवता की दृष्टि से दूसरी प्रणाली ही उत्तम है क्योंकि उसमें पाठक को कवि की वातें मानने के लिए वाध्य नहीं होना पड़ता, और साथ ही वह पात्रों को अधिक स्पष्ट और निकट से देख समझ भी सकता है। हाँ, ऐसा करने में कवि के अपने शब्द आप्त-वाक्य के रूप में उसे सहायता अवश्य दे सकते हैं। साकेत में प्रवन्ध, नाटक और गीत तीनों तत्वों का सम्मिश्रण है। अतः कवि ने वड़े सुन्दर ढंग से विवरणात्मक और अभिनयात्मक दोनों प्रणालियों को अपनाया है। परन्तु फिर भी विवरण का प्रयोग उसने चरित्र-चित्रण में वहुत ही कम किया है। अपने पात्रों के विपय में उसने स्वयं एकाध वाक्य ही कहा है। परन्तु उस वाक्य में उसके चरित्र का वीज रहता है जो परिस्थिति, कार्य-व्यापार, कथोपकथन आदि उपकरणों द्वारा पल्लवित होता चलता है। कौशल्या और सुमित्रा के विपय में कवि अपनी ओर से

केवल एक बात कहता है; कौशल्या को 'मूर्तिमती ममता-माया' और सुमित्रा को 'सिंही-सदृश क्षत्रियाणी'—बस। दोनों की ये ही विशेषताएँ आगे भिन्न भिन्न अवसरों और परिस्थितियों में किसी न किसी रूप में व्यक्त होती रहती हैं। कौशल्या के प्रत्येक शब्द में, उनके प्रत्येक कृत्य में ममता की प्रेरणा है। उधर सुमित्रा का क्षत्रियत्व भी सदैव उद्बुद्ध रहता है। इसी प्रकार लक्ष्मण का परिचय कवि एक पंक्ति में देता है!

शौर्य-सह सम्पत्ति लक्ष्मण-उर्मिला

लक्ष्मण का यही शूर रूप आगे चल कर अभिनयात्मक ढंग से विकसित होता है। उनके अपने शब्द, उनके कृत्य, दूसरों के उनके विषय में शब्द, सभी इस शूरता का व्याख्यान करते हैं। वनवास के समय उनका क्रोध, चित्रकूट में भरत-आगमन पर उनका क्षोभ, जनकपुर में उनका दर्प, सीता के कटुवाक्य सुन कर उनका उत्तर, राम-रावण युद्ध में उनका रण-कौशल, शक्ति के उपरान्त संज्ञा प्राप्त करते ही तुरन्त मेघनाद को याद करना—आदि सभी बातें लक्ष्मण के ठेठ वीरत्व पर प्रकाश डालती हैं। उधर राम, उर्मिला, सुमित्रा, शत्रुघ्न, भरत, दशरथ, मेघनाद सभी उनकी इसी विशेषता का बार-बार उल्लेख करते हैं।

राम— क्षत्रियत्व कर रहा प्रतीक्षा तात तुम्हारी।
भरत— हय उड़ाकर उच्छल आप समक्ष,
प्रथम लक्ष्मण ने धरा ध्वज-लक्ष!
शत्रुघ्न— तुम यहाँ थे हाय, सोदरवर्य्य!

और यह होता रहा आश्चर्य !
वे तुम्हारे भुज-भुजंग विशाल,
क्या यहाँ कीलित हुए उस काल !
उर्मिला— माना तूने मुझे है तरुण-विहरिणी,
वीर के साथ ब्याहा !
दशरथ— तदपि सत्पुत्र हो तुम शूर मेरे !
मेघनाद— तूने निज नर-नाट्य किया प्राणों के पण से !
इस पौरुष के पड़े अमरपुर में भी लाले,

⁂ ⁂ ⁂

अभिनयात्मक प्रणाली की सफलता इसी में है कि पात्र जो सोचे, जो कहे और जो करे, एवं जो दूसरे उसके विषय में कहे उसमें पूर्ण सामंजस्य हो। साकेत के चरित्र-चित्रण की यह सफलता असंदिग्ध है। चरित्र-अंकन के लिए कवि ने कथोपकथन, स्वगत, भाषण, गीत आदि अनेक उपकरणों का उपयोग किया है। परन्तु इस विषय में वह बड़ा सतर्क रहा है अतः उसके चरित्र-चित्रण में कहीं असंगति नहीं आने पाई !

अभिनय की एक और प्रवृत्ति का कवि ने प्रयोग किया है। वह यह कि उसके पात्र प्रायः सदैव दो दो करके सामने आते हैं यह बड़ा प्राचीन नाटकीय प्रयोग है। दशम् सर्ग में अवश्य सरयू को उर्मिला की सहचरी बनाना पड़ा है, परन्तु वहां केवल वर्णन मात्र है इसलिए इसकी आवश्यकता नहीं पड़ी। पहिले सर्ग में उर्मिला और लक्ष्मण हैं, दूसरे में कैकेयी और मंथरा, तीसरे में

राम-लक्ष्मण, चौथे में कौशल्या और सीता, फिर कौशल्या और सुमित्रा, छठे में दशरथ और कौशल्या, सातवें में भरत और शत्रुघ्न, फिर भरत कैकेयी और अन्त में फिर भरत और शत्रुघ्न, आठवें में सीता और राम, तदुपरांत राम और लक्ष्मण, राम-भरत, राम-कैकेयी, ग्यारहवें में भरत-माण्डवी, और बारहवें में पहिले भरत-शत्रुघ्न, फिर उर्मिला माण्डवी, और अन्त में सुमित्रा कौशल्या हैं।

इससे कथोपकथन का अवसर मिल जाने के कारण चरित्र चित्रण में सुविधा तो होती ही है—परन्तु साथ ही वैषम्य अथवा साम्य के द्वारा दोनों पात्रों की चरित्र-गत विशेषताएं अधिक स्पष्ट होती चली जाती हैं। दोनों पात्र एक दूसरे की सापेक्षता में अपने को उपस्थित करते हैं—या यों कहें कि दोनों एक दूसरे के लिए बैकग्राउण्ड का काम देते हैं! वैषम्य और साम्य का यह उपयोग साकेत में बड़ी कुशलता से किया गया है! राम और लक्ष्मण दोनों भाई हैं परन्तु एक दूसरे से नितान्त भिन्न–राम की क्षमा-वृत्ति लक्ष्मण की असहनशीलता के द्वारा स्पष्ट होती है और लक्ष्मण का चपल वीर-दर्प राम की गम्भीरता की छाया में चमकता है! इसी प्रकार भरत की शान्ति और विनय एवं शत्रुघ्न का औद्धत्य एक दूसरे को प्रकाश में लाते हैं। उधर सुमित्रा कैकेयी और कौशल्या तीनों का मातृत्व भी उनके भिन्न स्वभावों को प्रकट करता है—कैकेयी का 'क्षुभित पुत्रस्नेह' कौशल्या का अनिष्ट-भीरु सरल मातृत्व

और सुमित्रा का कठोर मातृत्व एक दूसरे की पुष्टि करते हैं साम्य दशरथ और कौशल्या में, भरत और राम में, शत्रुघ्न और लक्ष्मण एवं सीता और कौशल्या में पाया जाता है !

चरित्र-चित्रण में मौलिक उद्भावनाएं:—साकेत के अधिकांश पात्र कवि को परम्परा से प्राप्त हैं—वाल्मीकि, तुलसी एवं अन्य कवियों ने उनका चरित्र-चित्रण कर लोक की एक निश्चित धारणा बना दी है ! परन्तु साकेतकार ने इस परम्परा का आश्रय मात्र ही लिया है ! उसके सभी पात्र अपने हैं। उर्मिला और माण्डवी तो नितान्त उसकी ही सृष्टि हैं—अन्य सभी पात्रों के चरित्रों में भी उसने मौलिक उद्भावनाएँ करके नवीनता का समावेश किया है। उसके लक्ष्मण, दशरथ और कैकेयी, तुलसी और वाल्मीकि के लक्ष्मण, दशरथ, और कैकेयी से सर्वथा भिन्न हैं ! शत्रुघ्न, सुमित्रा अधिक सजीव हैं ! सुमित्रा के लिए उसे गीतावलि में संकेत मिला है ! हाँ राम, सीता, और कौशल्या में अधिक परिवर्त्तन नहीं है ! राम की प्रतिमा में साकेत-कार ने भी अनन्त-शील, अनन्त-शक्ति और अनन्त सौन्दर्य का समावेश किया है—परन्तु उनमें मानवत्व कुछ अधिक है—साथ ही कुछ नवीनता भी है ! राम के—

मैं यहाँ एक अवलम्ब छोड़ने आया,
गढ़ने आया हूँ नहीं तोड़ने आया।

× × × ×

संदेश नहीं मैं यहाँ स्वर्ग का लाया,
इस भूतल को ही स्वर्ग बनाने आया।

आदि शब्दों में ईसा के—शब्दों की प्रतिध्वनि काफ़ी स्पष्ट-सी है। सीता में मानस की सीता की अपेक्षा कुछ क्रिया-शीलता अधिक है! कैकेयी तो एक दम बदल गई है। युग-युग की लाञ्छिता रानी को भव्य माता के रूप में देख वृद्ध जग आज चकित है!

साकेत के चित्रकूट प्रसंग में उसकी द्रवित ग्लानि शत सहस्रधा हो कर वही है—जिसमें उसका लाञ्छन धुल कर स्वच्छ हो गया है! आज हम सभी चित्रकूट की सभा की भाँति चिल्ला कर कहने को तैयार हैं—

सौ बार धन्य वह एक लाल की माई।

साकेत के लक्ष्मण में मानस के लक्ष्मण की अपेक्षा उग्रता कुछ अधिक है—(वाल्मीकि के लक्ष्मण तो इतने ही उग्र हैं) परन्तु यह उग्रता बड़ी स्वाभाविक है। मानस के लक्ष्मण राम और सीता के सम्मुख कुछ अस्वाभाविक रूप से विनम्र बन जाते हैं—परन्तु साकेत का वीर क्षत्रिय अपने स्वभावगत दर्प को इन दोनों के समक्ष भी बनाए रखता है! एक ओर वह अपने क्षत्रियत्व को अकारण चैलेन्ज करने वाली सीता को दृढ़ता पूर्वक उचित उत्तर देता है, तो दूसरी ओर राम का प्रतिषेध भी सुनने को तैयार नहीं है! कैकेयी और दशरथ के प्रति उसके कटुशब्द सुन कर चाहे हम क्षुब्ध हो जाएँ—परन्तु

लक्ष्मण का यह स्वरूप हम को मुग्ध करता है! उसकी यह ऐंठ वांकी है—साथ ही स्वार्थ से निर्मुक्त भी—दशरथ कुछ अधिक मोहाभिभूत दिखाए गए हैं। उनके मोहाधिक्य पर महात्मा गांधीजी ने भी आपत्ति की थी! राम भी इसकी ओर संकेत करते हैं। वास्तव में उनके प्रलाप को सुनने के वाद कवि के—

दानव भय हारी देह मिटा
वह राज गुणों का गेह मिटा।

आदि शब्दों पर विश्वास नहीं होता!

पात्रों का प्रभावः—इस प्रकार के वैषम्य के होते हुए भी साकेत का चरित्र-चित्रण मानस के चरित्र-चित्रण से कम सफल नहीं है। उसके चरित्रों का मनोवैज्ञानिक आधार तो अधिक पुष्ट है ही! इसीलिए पात्रों के व्यक्तित्व की मध्यवर्तिनी रेखाएँ अत्यन्त स्पष्ट हैं। साथ ही साकेत के पात्र अधिक सजीव हैं। वे असाधारण व्यक्तित्व के मनुष्य हैं—परन्तु हैं मनुष्य ही, अतः हमारे अधिक निकट हैं! यही कारण है कि हमारे ऊपर उनका प्रभाव गहरा पड़ता है! अंगरेज़ी उपन्यासकार थैकरे ने चरित्र-चित्रण की शक्ति को जादू की शक्ति बतलाया है। उनको ऐसा अनुभव होता था मानो वह उनके हाथ से क़लम छीन कर स्वयं लिखने वैठ जाती हो और उनकी इच्छा अनिच्छा की चिन्ता न करते हुए पात्रों को स्वच्छन्द छोड़ देती हो! इस शक्ति का अस्तित्व कलाकार और साधक का अन्तर स्पष्ट कर देता

है—यहाँ प्रयत्न और प्रतिभा में विभाजन हो जाता है! साकेत की उर्मिला में प्रयत्न—कलाकार की तूलिका के चिन्ह—दिखाई देते हैं! कैकेयी के अंकन में क़लम उसके हाथ से छिन गई है—और माण्डवी की सृष्टि तो मानो अपने आप ही हो गई है! साकेत की ये तीन अमर सृष्टियाँ हैं जो लोक के स्मृति-पटल पर अनन्त काल तक अंकित रहेंगी।

साकेत की शैली और उसके प्रसाधन

साकेत प्रबन्ध काव्य है। कवि का अपना प्रयत्न उसको महाकाव्य-रूप में लिखने का रहा है। अतः उसकी शैली में प्रबन्ध की विशेषता होना स्वाभाविक है! आचार्यों ने स्थूल रूप से काव्यगत तीन प्रकार की शैलियों का निर्देश किया है—गीति-शैली, नाटक-शैली, और प्रबन्ध शैली! गीति-तत्व में कोमल भावना और उद्गीति का, नाटक तत्व में परिस्थिति-चित्रण, और प्रबन्ध-काव्य में कथा-वर्णन का प्राधान्य होता है। परन्तु वास्तव में इस प्रकार का वर्गीकरण बहुत दूर तक नहीं जाता, और न कोई कवि ही इस प्रकार की सीमाएँ बाँध कर काव्य-रचना करने बैठता है! नाटक में भी गीत का समावेश होता है—और प्रबन्ध में तो गीत और नाटक दोनों तत्व ओत-प्रोत होते ही हैं! हां, यह मानना अनिवार्य है कि काव्य की

प्रकृति का कवि की शैली पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। प्रवन्ध काव्यकार को गीत की अपेक्षा वर्णन को अधिक महत्व देना पड़ेगा, क्योंकि प्रवन्ध में घटनाओं का क्रमिक वंधन सबसे पहिली चीज़ है। अतः साकेत की शैली में सबसे पूर्व उसके कथा-वर्णन का विवेचन करना ही संगत होगा !

(अ) वृत्त-वर्णन (Narrative)

अंगरेज़ी साहित्य में वर्णन के दो प्रकार कहे गए हैं—एक में कथा का अर्थात् घटनाओं का समय के क्रम से वर्णन होता है, दूसरे में वस्तुओं का स्थान के क्रम से। परन्तु इन दोनों की सीमाएँ इतनी मिली जुली हैं कि उनके वीच में कोई विभाजक रेखा-खींचना कठिन है—फिर भी इतना निश्चित है कि एक में कथा की घटनाओं का वर्णन और दूसरे में वस्तु के अवयवों का चित्रण मुख्य है !

कथा-प्रवाह :— कथा-वर्णन का सबसे प्रधान तत्व है प्रवाह (movement)। जिस कथा में अविच्छिन्न धारा-प्रवाह नहीं है वह कम से कम महाकाव्य के उपयुक्त नहीं हो सकती। साकेत में, जैसा मैंने पूर्व ही निवेदन किया है, धारा-प्रवाह अविच्छिन्न नहीं है। उसमें तो प्रायः मुख्य-मुख्य दृश्यों को चुन कर उनको अन्वित कर दिया गया है। उदाहरण के लिए साकेत का प्रथम दृश्य है उर्मिला-लक्ष्मण प्रेम-परिहास जो अभिषेक की सूचना देता है, और दूसरा है कैकेयी-मंथरा-संवाद जिसमें वियोग का वीज-वपन होता है। यहाँ पाठक देखेंगे कि कवि तीन-चार

पंक्तियों द्वारा दशरथ और उनकी रानियां के सुख-वैभव का परिचय करा कर उक्त दोनों दृश्यों को झट से जोड़ देता है—

मोद का आज न ओर न छोर,
आम्र-वन-सा फूला सब ओर।
किंतु हा फला न सुमन-क्षेत्र,
कीट बन गए मंथरा-नेत्र !

वह आम्र-वन के रूपक को पकड़कर मंथरा के नेत्रों को तुरन्त ही कीट बनाता हुआ, दूसरे दृश्य को आरम्भ कर देता है ! इसके आगे कथा छोटे-छोटे दृश्यों द्वारा बढ़ती है। एक ओर कैकेयी की ईर्ष्या और रोप का चित्र है, दूसरी ओर कौशल्या के आह्लाद का, फिर उर्मिला-लक्ष्मण का वार्तालाप है। तत्पश्चात् राम की मनोदशा का वर्णन है, और अन्त में दशरथ की चिंता का चित्रण। इस प्रकार कथा अग्रसर हो जाती है और लौटते हुए दशरथ को कैकेयी के शांत गृह की ओर एक साथ आकृष्ट कराकर कवि फिर एक मुख्य दृश्य दशरथ-कैकयी-संवाद पर आ जाता है ! संवाद बढ़ते बढ़ते बड़े स्वाभाविक ढंग से वर-याचना-प्रसंग पर आता है। दशरथ कैकेयी को मनाते हुए उस से कुछ माँगने के लिए कहते हैं और कहते कहते उन्हें पहिले दिए हुए दो वरदानों की याद आ जाती है। बस कैकेयी को इष्ट-साधन का अवसर हाथ लगता है। इस प्रकार यद्यपि कवि को कहीं-कहीं अन्विति के लिए प्रयास करना पड़ा है परन्तु जोड़ सर्वत्र लक्षित नहीं होता—कथा की घटनाएं प्रायः एक दूसरे से

निकलती हुई चलती हैं। एक आध स्थान पर यह वड़े ही मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है। शत्रुघ्न राक्षसों की कथा कह ही रहे थे कि भरत की दृष्टि हनूमान पर पड़ती है और वे 'Think of the devil of he is there !' के अनुसार उनको मायावी राक्षस समझकर वाण द्वारा धराशायी कर लेते हैं। इस प्रकार तुरन्त ही हनुमान के द्वारा कथा को आगे वढ़ने का अवसर प्राप्त होता है।

कथा में दृश्यों का प्राधान्य होने के कारण कवि को घटनाओं के वीच में शीघ्रता से वार वार प्रवेश करना पड़ा है। दशरथ एक ओर कैकेयी का वर-प्रस्ताव सुनकर मूर्छित होते हैं, दूसरी ओर राम तुरन्त ही लक्ष्मण के साथ 'चलो पितृ-वंदना करने चलें अव', कहकर उनके पास नमस्कार करने जाते हैं और इस प्रकार वनवास की सूचना के लिये राम को प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती। इसी तरह भरत के आगमन पर कवि तुरन्त ही

हँस रही यह मन्थरा क्यों घूर।
भेद है इसमें निहित कुछ गूढ़।

कहकर वांछित प्रसंग पर आजाता है। कभी कभी कथा की गति को वढ़ाने के लिये पात्र स्वयं सीन पर आ जाते हैं। जैसे भरत जव शोक-ग्रस्त होकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं तो वशिष्ठ शीघ्र अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं और भावी कार्यक्रम निश्चित होने से कथा में गति आती है।

कथा-वर्णन में वाक् संयमः— साकेत के कथा-वर्णन में कवि ने संयम का बड़ा सुन्दर और कलामय प्रयोग किया है। लगभग सभी स्थानों पर जहाँ परिस्थिति गम्भीर हो गई है—जहाँ पर भावनाओं में संकुलता है, कवि ने विस्तृत वर्णन या विवेचन नहीं किया। उसने सदा वाक्-संयम—प्रायः मौन से काम लिया है। यह भावुकता का अनुरोध भी है, और शैली का प्रसाधन भी—इससे एक ओर भाव की अभिव्यक्ति पूर्ण होती है, दूसरी ओर वर्णन में एक साथ गति-रोध होने से कथा में विचित्रता आ जाती है। राम-वन गमन के समय तुलसीदास में सीता और लक्ष्मण दोनों से राम को काफी विवाद करना पड़ता है, तब कहीं जाकर उनका सहगमन निश्चित होता है। साकेत में भी यद्यपि बाद में ऐसा हुआ है, क्योंकि यह अनिवार्य था, परन्तु लक्ष्मण और सीता के निश्चय की ओर कवि एक पंक्ति में संकेत कर देता है—

लक्ष्मण— विदा की बात किससे और किसकी,
अपेक्षा कुछ नहीं है नाथ इसकी।
सीता— कहतीं क्या वे प्रिय जाया,
जहाँ प्रकाश वहीं छाया।

इसी प्रकार भरत के आगमन पर कैकेयी तुरन्त ही एक साँस में उनसे अपनी कृति का उल्लेख कर देती है—

वत्स, मेरा भी इसी में सार,
जो किया, करलूँ उसे स्वीकार।

प्रभु गये सुरधाम, वन को राम।
माँग मैंने ही लिया कुल-केतु,
राजसिंहासन तुम्हारे हेतु।

दशरथ से वर-याचना भी वह एक साथ कर लेती है। इनके अतिरिक्त साकेत के अनेक स्थल जैसे चित्रकूट में लक्ष्मण-उर्मिला मिलन, अन्तिम महामिलन आदि मेरे कथन का समर्थन करेंगे।

कथा-वर्णन के उपकरणः— कवि ने कथा-वर्णन के लिए कथोपकथन, दृश्य-चित्रण आदि की सहायता तो प्रायः ली ही है, कुछ स्थानों पर भाषण, और स्वगत का भी प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए वर-याचना की बात सुनकर शत्रुघ्न का क्रान्तिकारी भाषण, चित्रकूट में सीता का स्वगत-गान और फिर कैकेयी का भाषण, एवं अन्त में शत्रुघ्न का उद्बोधन आदि उपस्थित किये जा सकते हैं। यद्यपि उनका मुख्य प्रयोजन चरित्र-चित्रण ही है, परन्तु फिर भी कथा में रोचकता की अभिवृद्धि होती है।

इसके अतिरिक्त कहीं कहीं अनुमान का सहारा लेकर भी सम्बन्ध-निर्वाह किया है और वर्णन को संयत किया है। चित्रकूट में राम को पिता-मरण की सूचना की आवश्यकता नहीं पड़ती, वे

उस सरसी-सी आभरण-रहित सित-वसना

माता को देखकर स्वयं ही 'हा तात' कह कर चीत्कार कर

उठते हैं।

इति वृत्त :— साकेत के प्रासंगिक कथाओं का वर्णन प्रायः इतिवृत्त रूप में हुआ है। उर्मिला रघुराजाओं की वंश-परम्परा राम-लक्ष्मण का जन्म और शैशव, ताड़का-वध, प्रथम-मिलन धनुप-यज्ञ तथा अपने बाल्यकाल आदि का वर्णन सरयू से करती है। यह वर्णन 'स्मृति' रूप में किया गया है। अतः वे प्रसंग जिनका उसके जीवन से गहरा सम्बन्ध है, अथवा यों कहिये कि जिनका उसकी स्मृति पर अधिक प्रभाव है, स्वतः ही भाव-पूर्ण हो गये हैं। उदाहरण के लिये सीता उर्मिला की बाल-क्रीड़ा, प्रथम-मिलन तथा धनुप-यज्ञ की ओर सरलता से संकेत किया जा सकता है। इन स्थलों पर कथा की गति उच्छ्वसित हो जाती है और वर्णन में स्पन्दन आ जाता है। आगे हनूमान को भी वर्णन की यही शैली अपनानी पड़ी है। हनूमान के पास बहुत थोड़ा समय था और उनको सीता-हरण से लक्ष्मण शक्ति तक की सभी घटनाओं की सूचना देनी थी। कवि यदि चाहता तो उनमें से कुछ को छोड़ सकता था, परन्तु उनका सम्बन्ध कुछ राम के ईश्वरत्व से था, इसलिये कदाचित् उसकी हिम्मत नहीं पड़ी! अतः हनूमान की तात्कालिक स्थिति के अनुसार उनका बड़ा चलता हुआ वर्णन किया गया है। यहाँ कहानी की गति बड़ी तेज और काफ़ी नीरस है। पाठक प्रायः पिछड़ जाता है। सीता-हरण का वर्णन एक ही पंक्ति में दिया गया है। परन्तु जिस परिस्थिति का सृजन कवि ने किया

है उसमें इससे अधिक सफल वर्णन नहीं हो सकता था ! एक बात और भी है—कवि को यह भली भाँति विदित था कि उक्त सभी घटनाएँ जनता में व्याप्त हैं। अतः वह इस समय उनकी लोक-व्याप्ति का भी लाभ उठा सका है। इसलिये भी विस्तार की आवश्यकता नहीं रह गई ! फिर भी कथा-प्रवाह कहीं कहीं सवेग हो गया है :—

> चौंक वीर उठ खड़ा हो गया, पूछा उसने "कितनी रात ?"
> "अर्ध-प्राय", "कुशल है तब तो, अब भी है वह दूर प्रभात !"

शब्दों में कितनी त्वरा है ! अथवा

> गया जटायु इधर सुरपुर को, उधर जटानन लङ्का को।

कवित्व के दर्शन भी यत्र-तत्र हो ही जाते हैं—

> तारा को आगे करके तब नत वानरपति शरण गया !

युद्ध का वर्णन करते करते तो हनूमान परिस्थिति का बन्धन भी तोड़ देते हैं (क्योंकि वे वीर थे)। उसमें महाकाव्य के अनुरूप ही एक अप्रतिहत वेग और उच्छ्वास आगया है। वर्णन के शब्द एक दूसरे से कन्धे से कन्धा भिड़ा कर नहीं चल रहे। उनमें धक्का-मुक्की मची हुई है—वे इस समय 'डबल अप' कर रहे हैं। यह वेग बढ़ता ही जाता है अन्त में राम की मूर्छा के साथ वर्णन भी एक साथ क्षीण होकर गिर पड़ता है और उसको वाञ्छित विराम मिल जाता है। यह कवि के वर्णन का कौशल है जो भावों के साथ उठता गिरता है। अन्तिम सर्ग का रोला-प्रवाह इस मूर्छा के उपरान्त स्वाभाविक था। वहाँ कथा सिन्धु-

नद की भाँति दुर्धर-वेग से आगे बढ़ती है। उस प्रवाह में भरत, शत्रुघ्न, उर्मिला, साकेत-वासी सभी बह रहे हैं।

रोचकता एवं उत्सुकता—कथा-वर्णन का सबसे बड़ा गुण है रोचकता जिसके लिये पाठक की उत्सुकता को वश में करना आवश्यक होता है! साकेत की कथा में इस प्रकार का विधान कुछ कठिन था क्योंकि उसकी घटनाएँ सभी पूर्व परिचित हैं। फिर भी कवि की मौलिक उद्भावनाओं द्वारा यह कार्य सिद्ध हुआ है! साथ ही कुछ स्थलों पर तो इतनी गहराई आ गई है कि पाठक या श्रोता की स्मृति पर उनका चिर-स्थिर प्रभाव आप से आप पड़ता है। चित्रकूट में कैकेयी की सफाई, उर्मिला-लक्ष्मण का क्षणिक मिलन, राम-रावण-युद्ध आदि ऐसे ही स्थल हैं! उत्सुकता के लिए यह वाञ्छनीय है कि कथा की भावी गति-विधि पहले ही स्पष्ट न हो जाए! इसके लिए कथा में प्रायः ड्रैमेटिक टर्न का उपयोग होता है। साकेत में स्थान स्थान पर परिस्थिति में सहसा परिवर्तन करके ऐसा विधान किया गया है। चित्रकूट पर भरत और राम का संवाद हो रहा था। भरत को अतिशय ग्लानि-पीड़ित देखकर राम कह उठे

> उसके आशय की थाह मिलेगी किसको
> जन कर जननी भी जान न पाई जिसको।

यह केवल भरत की प्रशस्ति मात्र थी और राम का तात्पर्य उस समय लोगों पर उनकी महाशयता प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं था—परन्तु कैकेयी एक साथ इन शब्दों को

पकड़कर बोल उठती है और कथा दूसरी ओर प्रवृत्त हो जाती है! द्वादश सर्ग में साकेत की सेना रण के लिए प्रस्तुत खड़ी थी। चलने के लिए बस अन्तिम संकेत की प्रतीक्षा थी, इतने ही में वशिष्ठ का;'शांत शांत !' गंभीर नाद सुन पड़ा अचानक।' और कथा का प्रवाह एक साथ बदल गया।

नाटकीय विषमता या पूर्व-संकेत (Dramatic Irony)—कहानी में रोचकता का समावेश प्रायः विस्मय अथवा कौतूहल की सृष्टि द्वारा ही होता है। किसी न किसी रूप में कहानी लेखक इसी का सृजन करने का प्रयत्न करता रहता है। नाटक-कार के पास कौतूहल उत्पन्न करने के अधिक साधन हैं। वह कभी कभी ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देता है जिसके दो विरोधी अर्थ होते हैं—एक पात्रों के लिए, दूसरा दर्शकों या पाठकों के लिए। कभी कभी पात्र अनजाने कुछ ऐसी कार्यवाही करते हैं, या कुछ ऐसी बात कहते हैं जिसका अर्थ उसी समय या बाद में जाकर पाठकों के लिए पूर्व परिचित-सा प्रतीत होकर उनके कौतूहल को एक साथ बढ़ा देता है, पर पात्र स्वयं उससे अनभिज्ञ रहते हैं। पात्रों की इस अनभिज्ञता और दर्शकों अथवा पाठकों की अभिज्ञता के बीच जो विषमता रहती है वही इस कौतूहल की जननी होती है। यह विषमता दो प्रकार की होती है—१-परिस्थिति की २—शब्दों की! इस प्रकार के साधनों का प्रयोग नाटक-कार ही नहीं, कोई भी कहानी लिखने वाला कर सकता है। प्रबन्ध काव्य में भी कुशल कलाकार इसका बड़ा सुन्दर प्रयोग कर

सकते हैं-और करते हैं। सफल कहानी कहने वालों की कृतियों में ऐसे क्षण अनायास ही आजाते हैं! साकेत में नाटक के अनेक तत्व स्वतः ही आ गए हैं। कई स्थानों पर इस विषमता का भी बड़ा रोचक उपयोग किया गया है! पहिले परिस्थिति की विषमता का एक उदाहरण लीजिए:—पहिले सर्ग में, उर्मिला ने राम के अभिषेक का एक चित्र खींचा—वह लगभग समाप्त हो चुका था, बस लक्ष्मण का स्थान उसमें और अङ्कित करना था। लक्ष्मण और उर्मिला में इसी विषय को लेकर एक शर्त ठहरी—लक्ष्मण का कहना था कि उर्मिला उनका चित्र नहीं खींच सकती—उधर उर्मिला को अपनी कला पर विश्वास था। खैर, रचना प्रारम्भ हुई परन्तु बीच ही में प्रेमिका को रोमाञ्च हो आया—और

चिबुक रचना में उमंग नहीं रुकी,
रंग फैला लेखनी आगे झुकी।
एक पीत-तरंग-रेखा-सी बही
और वह अभिषेक घट पर जा रही!

यहाँ रंग की पीत रेखा का बहकर अभिषेक घट पर जाना साधारण सी बात है। रंग वह गया और वह कहीं फैल सकता था। चित्र में लक्ष्मण अभिषेक घट के पास ही थे, अतः वह रेखा उसी पर जा पहुँची। उर्मिला और लक्ष्मण पर भी इसका कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। परन्तु पाठक को इसका अर्थ कुछ देर बाद ही दूसरे सर्ग में पता चल जाता है—वह प्रत्यक्ष ही अभिषेक के प्रसंग को नष्ट-भ्रष्ट होता हुआ देखकर, एक विशेष रहस्य को पालेता

है ! इसी प्रकार चित्रकूट पर राम और सीता विलास-क्रीड़ा में मस्त हैं। राम सीता से परिहास करते करते स्वभावतः कह उठते हैं—

हो जाना लता न आप लता-संलग्ना
करतल तक तो तुम हुईं नवल दल-मग्ना !
ऐसा न हो कि मैं फिरूं खोजता तुमको।

राम का अन्तिम वाक्य पहिले वाक्य का ही अंश है—उसका कोई और अर्थ नहीं है ! परन्तु पाठक आगे चलकर प्रत्यक्ष ही राम को सीता की खोज में भटकता हुआ देखकर दोनों घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और राम की उक्ति के भविष्य-संकेत के रहस्य को समझ कर विस्मय-मुग्ध हो जाता है !—इन उदाहरणों में पहिला परिस्थिति की और दूसरा शब्दों की विषमता की ओर निर्देश करता है !

घटनाओं की सकारणता और पूर्वापर सम्बन्ध:—नाटकीय विस्मय का उपयोग होते हुए भी साकेत की घटनाएँ सभी सकारण हैं।‡ कवि का प्रयत्न यथा सम्भव सभी बातों का कारण

---

‡ऊपर की दृष्टि से देखने से ड्रैमेटिक टर्न और सकारणता में कुछ विरोध प्रतीत होता है—परन्तु वास्तव में यह बात नहीं है। ड्रैमेटिक टर्न की प्राण है आकस्मिकता और आकस्मिकता का सकारणता से कोई विरोध नहीं। आकस्मिक घटनाओं का भी कारण होता है परन्तु वह उस समय व्यक्त नहीं होता। वास्तव में पाठक या श्रोता कोई अकारण बात पचाने में समर्थ नहीं हो सकता वह कारण के लिए सदा व्याकुल रहता है !—लेखक !

उपस्थित करने का रहा है—इसीलिए कहीं कहीं पूर्वा-पर सम्बन्ध मिलता है ! विदा लेते समय राम से केवल एक प्रार्थना करते हैं—

मां मुझको फिर देख सकें जैसे सही,
पित: पुत्र की प्रथम याचना है यही ।

राम के इन शब्दों के महत्व का अनुभव हमको दशरथ-मरण के उपरान्त होता है जब कौशल्या सती होने का प्रस्ताव करती हैं और वशिष्ठ उनको समझाकर रोक देते हैं । राम की प्रार्थना और वशिष्ठ के (कौशाल्यादि को दिए हुए) उपदेश में घनिष्ठ सम्बन्ध है ! इसी प्रकार वशिष्ठ के

करो आर्य सम वन्य-वर्गों को सभ्य तुम ।

आदि शब्दों में और राम के कृत्यों में भी परस्पर सम्बन्ध है ! इनके अतिरिक्त कुछ और भी बड़े सूक्ष्म उदाहरण है, जैसे साकेत में भरत की कैकेयी के प्रति भर्त्सना और चित्रकूट में कैकेयी का प्रायश्चित्त—इन दोनों में एक सूक्ष्म तारतम्य है । रानी का पश्चात्ताप बहुत कुछ भरत की भर्त्सना से प्रेरित है:—

१—"कठिन तेरा उचित न्याय-विचार !
मृत्यु ? उसमें तो सहज ही मुक्ति !
भोग तू निज भावना की भुक्ति ।"—भरत ।
२—"स्वार्थ ही निज ध्रुव-धर्म हो उस ठौर,
क्यों न माँ, भाई न बाप न और !

× × × ×

उचित तुझको इस-शासन-नीति
और मुझको लोक-सेवा प्रीति !"
३-"सूर्य-कुल में यह कलंक कठोर,
निरख तो तू तनिक नभ की ओर !"—भरत

१—"श्रीखण्ड आज अङ्गार-चंड है मेरा
फिर इससे बढ़कर कौन दण्ड है मेरा !" —कैकेयी
२—"बस मैंने इसका बाह्यमात्र ही देखा
दृढ़ हृदय न देखा मृदुल गात्र ही देखा
परमार्थ न देखा, पूर्ण स्वार्थ ही साधा—"कैकेयी
३—"युग युग तक चलती रहे कठोर कहानी
रघुकुल में भी थी एक अभागी रानी !" —कैकेयी

भरत राम के संवाद में भी अभीप्सित शब्द का प्रयोग अन्त तक हुआ है ! राम प्रारम्भ में उसको प्रयुक्त करते हैं, भरत उसको पकड़ कर अपनी ग्लानि उसी के द्वारा व्यक्त करते हैं—और अन्त में राम फिर उसी के साथ वाद-विवाद को समाप्त करते हैं—

या यही अभीप्सित तुझे अहे अनुरागी !

कवि के वस्तु-विधान में यह सूक्ष्म कौशल स्तुत्य है ! हनूमान के वर्णन में यह सकारणता का गुण और भी स्पष्ट है । यहाँ कवि को वर्णन के लिए थोड़ा-सा समय निकालना था अतः उसने पहिले ही भरत के पास जड़ी उपस्थित कर दी है जिससे हनूमान को हिमालय तक नहीं जाना पड़ा और इस प्रकार वाञ्छित अव-

काश मिल गया है !

इस सकारणता का प्रयोग कवि ने अपने ही लिए नहीं किया—वह अपने पात्रों के कृत्यों का भी कारण उपस्थित करने को सदैव उत्सुक रहता है। कौशल्या, सुमित्रा आदि पति की अनुगामिनी क्यों न हो सकीं ? भरत क्यों नहीं बुलाए जा सके ? इन सभी की व्याख्या वह बार-बार कराता है ! बालि-वध का वर्णन एक पंक्ति में किया गया है परन्तु वहाँ भी कवि 'बर्बर पशु कह' के संकेत द्वारा घटना को सहेतु सिद्ध करता है। यह सकारणता एक ओर तो पात्रों के चरित्र पर प्रभाव डालती है, दूसरे पाठक के चित्त में जो कभी-कभी कारण न मिलने से उद्विग्नता अथवा विरक्ति होती है उसका उपचार करते हैं जिससे वह कथा के निकट आ जाता है ! अस्तु !

दोष :—यह सब होते हुए भी साकेत के कथा-वर्णन में कई दोष हैं। सब से पहिला दोष है कतिपय स्थानों पर सजीवता का अभाव—विशेष कर तृतीय, चतुर्थ और षष्ठ सर्ग में—वहाँ हम को बड़े निर्जीव वर्णन मिलेंगे जिनसे ऐसा प्रतीत होता है मानो कवि वर्णन में भरती कर रहा हो !

१—साँप खिलाती थीं अलकें,
मधुप पालती थीं पलकें,
और कपोलों की झलकें
उठती थीं छवि की छलकें ! (चतुर्थ सर्ग)

२—मेरे कर युग हैं टूट चुके,
कटि टूट चुकी, लुप्त छूट चुके,
आंखों की पुतली निकल पड़ी
वह यहीं, कहीं है विकल पड़ी। (षष्ठ सर्ग)

उपर्युक्त वर्णन ऐसे ही हैं। इस समय पाठक का ध्यान स्वतः ही कवि के प्रिय काव्य मेघनाद-वध (जिसका साकेत के वस्तु विधान पर काफ़ी प्रभाव है) की ओर जाता है और उसके दुर्दम प्रवाह का स्मरण होते ही कवि का यह दोष और स्पष्ट हो जाता है!

दूसरा बड़ा दोष है कथा-वर्णन में अनुपात की कमी। कथा की गति आवश्यकता से अधिक विषम है, उसमें प्रारम्भ में अत्यन्त मंथरता, मध्य में पूर्ण स्थिरता और अन्त में बड़ी लपक-झपक है मानो किसी को कहने सुनने का अवसर ही न हो! इसका एक कारण है कवि में मानसिकता (Subjectivity) का प्राधान्य, जो प्रबन्ध और विशेषकर महाकाव्य के कथा-प्रवाह के अनुकूल नहीं—क्योंकि उसका प्रधान तत्व तो विराट दृश्य-शृंखला (Panoramic Visions) है!

(आ) दृश्य-विधान

भावना के उच्च धरातल पर जाकर सभी कलाएँ शुद्ध एक रूप हो जाती हैं—उस समय गान में चित्र और चित्र में गान का आभास स्वयं होने लगता है। कवि में तो गायक, शिल्पी और चित्रकार सभी होते हैं। वह अपनी काव्य-सामग्री के द्वारा

मूर्ति-निर्माण कर सकता है, चित्र अंकित कर सकता है, संगीत की ध्वनियाँ लहरा सकता है। उसकी संवेदना इतनी तीव्र, पर्यवेक्षण इतना सूक्ष्म और साधन इतने सशक्त होते हैं कि वह सहज ही यह सब कुछ कर लेता है। अथवा यों कहिए कि उसका अनुभव इतना मूर्तिमन्त होता है कि बिना प्रयास के ही वह चित्रों द्वारा व्यक्त होने लगता है। साकेत में एक लम्बी कथा है जो समय और स्थान की दृष्टि से काफ़ी विस्तृत है। कथा के लिए परिस्थिति के अनुसार शुद्ध प्राकृतिक और भौतिक सैटिंग की आवश्यकता पड़ती है। मनुष्य का वातावरण उस पर प्रतिक्रिया द्वारा प्रभाव डालता है। अतः कथा के पात्र जब भौतिक जीवन के संकुचित घेरे में कार्य-रत दिखाई देते हैं, तो उनके कार्य-कलाप, भावों एवं विचारों को समझने के लिए भौतिक वातावरण को हृदयंगम करने की ज़रूरत पड़ती है और जब उनके भावों में विस्तार आ जाता है तथा उनकी क्रीड़ास्थली उन्मुक्त प्रकृति बन जाती है, उस समय प्राकृतिक रंग-भूमि का अंकन करना पड़ता है। साकेत में साधारणतया दोनों प्रकार के दृश्यों का नियोजन है। प्रारम्भ में साकेत-नगरी और राज-प्रासाद का वैभव-पूर्ण वर्णन है। उसमें कवि-परम्परा भुक्त कुछ बातों का समावेश होने पर भी, दो एक स्थान पर वातावरण का बड़ा सुन्दर सृजन हुआ है। कवि राज-प्रासाद का वर्णन करता हुआ कहता है—

ठौर ठौर अनेक अध्वर-यूप हैं,
जो सुसंवत के निदर्शन-रूप हैं।
राघवों की इन्द्र-मैत्री के बड़े,
वेदियों के साथ साक्षी से खड़े।
मूर्तिमय विवरण समेत जुड़े जुड़े,
ऐतिहासिक वृत्त जिनमें हैं खुदे।
यत्र तत्र विशाल कीर्ति-स्तम्भ हैं,
दूर करते दानवों का दम्भ हैं।

उक्त विवरण में कवि की संस्कृति-पूजा ने सचेत होकर अर्थ-गौरव का भव्य चित्र उपस्थित किया है। यह ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि का सुन्दर उदाहरण है। सामाजिक पृष्ठ भूमि के लिए शत्रुघ्न द्वारा वर्णित साकेत के समाज-जीवन की वस्तुस्थिति का अध्ययन कीजिए। सुखी देश के सम्पन्न समाज का वह आदर्श चित्र है!

प्राकृतिक दृश्य साकेत में बहुत हैं। कुछ साधारण भूमिका स्वरूप हैं, कुछ समता अथवा वैषम्य के द्वारा पात्रों के भावों पर घात-प्रतिघात करते हैं। कुछ का समावेश महाकाव्य की परम्परा-वश भी हो सकता है। शुद्ध प्राकृतिक दृश्यों की परीक्षा करते समय हम तुरन्त ही इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि यह कवि का अपना क्षेत्र नहीं है। साकेत में प्रकृति के चित्र नहीं वर्णन हैं—उनमें भी शिथिलता है! कल्पना और भाव का सुन्दर योग होते हुए भी उनका सम्पूर्ण चित्र कवि के मन पर प्रायः अंकित नहीं होता, अतः उनमें एकता (Unity) का अभाव है। कवि

की भाषा भी कुछ अंशों में इसके लिए दोषी है। पहिले सर्ग का प्रभात-वर्णन मेरे कथन की पुष्टि करेगा! उसके सूक्ष्म अवयवों में पर्याप्त चारुता है, परन्तु चित्र सम्पूर्ण नहीं है!

"सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ
किंतु समझो रात का जाना हुआ।
क्यों कि उसके अङ्ग पीले पड़ चले,
रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।
नींद के भी पैर हैं कँपने लगे!

× × ×

स्वप्न के जो रंग थे वे धुल उठे

× × ×

दीप कुल की ज्योति निष्प्रभ हो गिरी,
रह गई अब एक घेरे में घिरी!

उपर्युक्त अवतरण में रात्रि के अङ्गों का क्रमशः पीला पड़ना, उसके रम्यरत्नाभरणों (तारों) का ढीला पड़ना, नींद के पैरों का कँपना, दीप की ज्योति का एक घेरे में घिरी हुई रहजाना—सभी बातें कवि के सूक्ष्म अन्वीक्षण और चित्रमयी कल्पना की साक्षी हैं, परन्तु चित्र में एकता नहीं है। उसकी गठन में बड़े भद्दे जोड़ हैं, जो 'आना हुआ', 'जाना हुआ', 'क्योंकि' आदि शब्दों में स्पष्ट हैं!

लेकिन फिर भी साकेत में रम्य प्रकृति—चित्रों की कमी नहीं है—

'कहीं सहज तरु—तले कुसुम शैया बनी
ऊंघ रही है पड़ी जहाँ छाया घनी !
घुस धीरे से किरण लोल दल-पुञ्ज में
जगा रही है उसे हिला कर कुञ्ज में।
किन्तु वहां से उठा चाहती वह नहीं
कुछ करवट—सी पलट लेटती वहीं।

उक्त चित्र में यद्यपि

किन्तु वहाँ से उठा चाहती वह नहीं।

में शिथिलता-सी आ गई है, परन्तु अन्तिम पंक्ति ने उसके दोष को छिपा लिया है !

चित्रकूट सभा के उठ जाने के बाद सभी के मानस सर्वथा निर्मुक्त हो गए। उनका आल्हाद जय जय कार के रूप में प्रकट होने लगा—सभी के हृदय में एक अपूर्व हर्ष-छटा छागई। कवि पात्रों की इन भावनाओं को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए प्रकृति का एक अत्यन्त प्रसन्न चित्र उपस्थित करता है जिसमें समानता द्वारा भावों पर प्रतिघात होता है। यह चित्र स्वच्छ ईषद् प्रकाशमय है, मानो प्रकृति का भी मानस एक साथ निर्मुक्त होगया और उसमें भी हर्ष की एक लहर बह गई हो !

'मूँदे अनन्त ने नयन, धार वह झाँकी,
शशि खिसकगया निश्चिन्त हँसी हँस बांकी !
द्विजक चहक उठे, हो गया नया उजियाला,
हाटक-पट पहिने दीख पड़ी गिर-माला !'

एक स्थान पर कवि ने विराट शून्य का महान् चित्र उपस्थित किया है। उसमें रंग नहीं है किन्तु एक अवाक् स्वच्छ विस्तार है।

तम फूट पड़ा, नहीं अटा,
यह ब्रह्मान्ड, फटा, फटा, फटा !
सखि देख दिगन्त है खुला,
तम है, किन्तु प्रकाश से धुला !

साकेत की रंग-शाला में कुछ मानव-चित्र भी हैं। पहले सर्ग का निम्नाङ्कित चित्र बड़ा प्रसिद्ध है—

चूमता था भूमितल को अर्ध-विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बनकर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राण-पति का हाथ,
होरही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ !

यह स्थित-चित्र एकान्त पूर्ण है। आलोचक सत्येन्द्रजी ने इसकी समता नाटक के टेब्लों से उचित ही दी है। हिन्दी में भी ऐलफ्रेड आदि के रंग-मञ्च पर ड्राप सीन प्रायः इसी प्रकार होता था !

मनुष्यों की मुद्राओं के सूक्ष्म चित्रण में भी कवि की तूलिका ने कौशल दिखाया है। हम सभी कुछ सोचते कहते या करते समय एक विशेष प्रकार की मुद्रा बना लेते हैं। साहित्य शास्त्र का अनुभाव भी इसी का एक रूप है। विना इन मुद्राओं के अंकन के भाव की अभिव्यक्ति कुछ क्षीण हो जाती है क्योंकि उसमें मूर्तता नहीं

रहती, अतः प्रत्येक कवि के काव्य में स्वतः ही इनका समावेश हो जाता है। साकेत में स्थान स्थान पर हमें उनका प्रयोग मिलेगा।

राम के वनवास की सूचना अभी लोगों को नहीं मिली थी, परन्तु दशरथ की आर्त-अवस्था का समाचार समस्त रनवास में व्याप्त हो चुका था। सभी को एक विशेष चिन्ता और उत्सुकता थी कि आखिर बात क्या है। परन्तु राज-रहस्य था किसी की पूछने की हिम्मत नहीं पड़ती थी। राम पिता से विदा होकर माता के भवन को जा रहे हैं, नौकर उन्हें विस्मय-विमूढ़ होकर देखते हैं। उनकी उस समय की दशा का चित्रण कवि दो पंक्तियों में करता है। ये दो पंक्तियाँ उनकी मुद्रा को ही नहीं, उस समस्त वातावरण को अंकित करने में समर्थ हैं—

झुका कर सिर प्रथम, फिर टक लगा कर,
निरखते पार्श्व से थे भृत्य आकर।

इस प्रकार के अवाक् मुद्रा-चित्र आजकल सिनेमा में प्रायः प्रदर्शित किये जाते हैं। ऐसे दो एक उदाहरण और द्रष्टव्य हैं—

(१) पकड़कर राम की ठोड़ी, ठहर के,
तथा उनका वदन उस ओर करके,
कहा गत-धैर्य होकर भूपवर ने—
चली है देख, तू क्या आज करने।

(२) सिमिट सी सहसा गई प्रिय की प्रिया,
और एक अपांग ही उसने दिया।

उपर्युक्त चित्रों में रेखाएँ कुछ अधिक स्थूल हो गई हैं— साकेत में कवि ने भाव-भंगिमा के और भी बड़े सुन्दर अंकन किये हैं। पाश्चात्य आलोचक ब्रूस्टर ने चित्रण की व्याख्या करते हुए कहा है कि चित्रण केवल वस्तु का ही नहीं भाव एवं मनोदशा का भी हो सकता है और होता है। यहाँ हम कुछ ऐसे चित्र लेंगे जिनमें रेखाएँ धुँधली होने पर भी भाव का चित्र पूर्ण है। कवि ने इनमें सूक्ष्म प्रत्ययों का चित्रण नहीं किया, वरन् व्यञ्जना की सहायता से प्रभाव उत्पन्न करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ चित्र में रेखा नहीं ध्वनि है—

उत्तर की अनपेक्षा करके, आँसू रोक सुमन्त्र,
चले भूप की ओर वेग से घूमा अन्तर्यन्त्र।
'अरे' मात्र कहकर ही उनको रहे देखते राम,
और राम को रहे देखते लक्ष्मण लोक-ललाम।

अन्तिम सर्ग की कथा है। हनुमान लक्ष्मण-शक्ति का दुःसंवाद देकर उड़ गए—

जल में पंख पसार शफर सरंक ले जैसे।

उनके शब्दों से परिस्थिति में एक विचित्र गहनता (Tensity) आ गई—माण्डवी और शत्रुघ्न के उद्दीप्त अहंकार ने उसको और भी घनीभूत कर दिया। उस समय भरत के हृदय में एक विचित्र तूफान घुमड़ रहा था, वातावरण में एक निस्तब्ध सनसनी-सी व्याप्त थी। माण्डवी के चले जाने से उसमें कुछ हल-चल सी हुई—मानो भरत की समाधि टूट गई हो :—

देकर निज गुंजार-गन्ध मृदु मंद पवन को
चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज-भवन को !
रहे सन्न से भरत, कहा—'शत्रुघ्न' उन्होंने
उत्तर पाया 'आर्य' लगे दोनों ही रोने !

चित्र सवाक् हो उठा है !

ऊपर दिए हुए चित्र प्रायः सभी स्थिर हैं—स्थिर चित्र खींचने में कवि को स्थान के ही अनुपात का ध्यान रखना पड़ता है, परन्तु गतिमय चित्रों के अंकन में स्थान और काल दोनों का महत्व है। अतः गति लाने के लिए कवि-कौशल की अपेक्षा अधिक होती है। समर्थ कवि के काव्य में ये सभी बातें अनायास ही उपस्थित हो जाती हैं। उसकी कलामयी दृष्टि में वस्तुओं का यथातथ्य स्वरूप अपने आप अंकित हो जाता है। वह भाव, मुद्रा, गति आदि को पृथक-पृथक लेकर एक स्थान पर समाविष्ट नहीं करता, वरन् सम्पूर्ण को ही ग्रहण करता है। दो एक उदाहरण लीजिए—शत्रुघ्न और भरत के ध्वनि-संकेत को सुन कर साकेत के निद्रा-विलासी वीर एक साथ चकित हो कर उठने लगे। उनके सम्भ्रम का एक चित्र देखिए:—

प्रिया कण्ठ से छूट सुभट-कर शस्त्रों पर थे,
त्रस्त-वधू-जन हस्त स्रस्त-से वस्त्रों पर थे !
प्रिय को निकट निहार उन्होंने साहस पाया,
बाहु बढ़ा पद रोप, शीघ्र दीपक उकसाया !"

इस वर्णन में गति में चित्र और चित्र में गति आगई है !

विलासरत वीरों के हाथों का सहसा प्रिया के कण्ठों से छूटना और आदत के अनुसार तुरन्त ही शस्त्रों पर जाना, उधर वधुओं का भयातुर होकर खिसकते हुए ढीले, अस्तव्यस्त वस्त्रों को पकड़ना—फिर प्रियतम को समीप देखकर आश्वस्त हो बाहु बढ़ाकर एक पैर नीचे रखकर दीपक को उकसाना अनेक क्रियाओं का अत्यन्त सजीव चित्रण है ! गति का एक और छोटा-सा चित्र लीजिए—

तनिक ठिठक, कुछ मुड़कर बायें देख, अजिर में उनकी ओर
शीश झुकाकर चली गई वह मन्दिर में निज हृदय-हिलोर !

इसमें भी कई गतियों का एक साथ अंकन है ! इस प्रकार के चल-चित्र क्षणभर फुलझड़ी की भाँति चमककर पीछे एक रेखा-सी छोड़ जाते हैं। कवि को स्वयं इसका ज्ञान है। माण्डवी के शिविका में बैठकर सहसा चले जाने पर, उसकी गुञ्जार-गंध पवन में उलझी हुई रह जाती है—

देकर निज गुंजार गन्ध मृदु मंद पवन को
चढ़ शिविका पर गई माण्डवी राज-भवन को।

इन सभी चित्रों में अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षण से काम लिया गया है। कहीं कहीं केवल इम्प्रेशन-द्रष्टा के मन पर पड़े हुए प्रभाव के द्वारा ही बड़े सजीव चित्र खींचे गये हैं। चित्रकूट में विधवा कौशल्या को पहिले पहल देखकर राम के मन पर कैसा प्रभाव पड़ा, इसका चित्रण करने के लिए कवि अत्यन्त सूक्ष्म अवयवों को एकत्र करता है—

जिस पर पाले का एक पर्त सा छाया,
हत जिसकी पंकज-पंक्ति अचल-सी काया,
उस सरसी-सी आभरण-रहित सित-वसना
सिहरे प्रभु मां को देख हुई जड़ रसना !

राम के मन पर सितवसना हतश्री, निराभरण विधुरा रानी के दर्शन का जो प्रभाव पड़ा उसको ज्यों का त्यों पाठक के मन पर उतार देने के लिए कवि को वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना करनी पड़ी है। पाले का पर्त श्वेत आकर्षण शून्य साड़ी की कितनी सुन्दर व्यञ्जना करता है—और शिशिर की सरसी द्वारा श्रीहता कौशल्या (जिसके मानस की सभी तरङ्गें निश्चेष्ट हो गई थीं) के फोटो में तो रिटचिंग की भी आवश्यकता नहीं रह गई !

यह इम्प्रैशन-चित्र कहीं-कहीं एक दो पंक्ति में ही पूर्ण हो गया है। उर्मिला अपने नव यौवन के आगमन के समय की विचित्र मनोदशा का वर्णन करती है।

१—तिरछी यह दृष्टि हो उठी,
तकती-सी यह सृष्टि हो उठी !

यौवन के इस लक्ष्य (Cynosure) का चित्रण कितना भावमय है। कवि की सूक्ष्म भावुकता ने चित्र के अन्तर में प्रवेश करके मानो उसका अंकन किया हो।

२—हिलमिल कर मिल गई परस्पर लिपट जटाएँ—

यहां केवल एक रेखा। है जटाओं मिलने का दृश्य सामने

आते ही मन में अनेक धुँधले चित्र घूम जाते हैं। युवराज राम का मुकुट उतार कर जटा-वंधन करना, वन में चौदह वर्षों तक रूखी जटाओं का बढ़ते रहना, इधर भरत का भी नव वय में वैराग्य धारण करना और साधन होते हुए भी तपस्वी-वेश ले लेना—फिर इतने दिनों वाद दोनों राजकुमारों का तापस-वेश में सम्मिलन—यह सभी कुछ सामने आ जाता है।—कभी कभी एक शब्द ही समस्त प्रभाव (Impression) को मुखर करता हुआ चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो जाता है।

"आ गए"—सहसा उठा यह नाद!
बढ़ गया अवरोध तक संवाद!

यहां एक—अकेला शब्द 'आगए' समस्त भावना को मूर्त कर चित्र में जीवन डाल देता है!

कहने का तात्पर्य्य यह है कि कवि का निरीक्षण वड़ा सूक्ष्म है। उसकी दृष्टि वस्तुओं के अन्तर में प्रविष्ट होकर उनके सौन्दर्य को वाहर खींच लाती है। यह प्रकृति चित्रों के विषय में इतना ठीक नहीं जितना मानव-चित्रों के विषय में। साकेत के वृहत चित्र कहीं कथा के लिए पृष्ठ-भूमि उपस्थित करते हैं, कहीं मानव-कार्यों की रंगस्थली का कार्य करते हैं और कहीं उत्सुकता की वृद्धि करते हुए कथा में नाटकीय रोचकता का समावेश करते हैं; और छोटे चित्र प्रायः भावों को मूर्तिमंत करके कथा में उभार लाते हैं।

संवाद

प्रत्येक कथा का चाहे वह नाटक रूप में प्रदर्शित की गई हो, या उपन्यास-रूप में वर्णित, अथवा प्रवन्ध काव्य के रूप में गाई गई हो, संवाद एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपकरण है। उसके द्वारा कथा की गति आगे वढ़ती है, चरित्र की गहन गुत्थियाँ सुलझती हैं और वर्णन में प्राण आते हैं। साकेत में संवाद द्वारा यह सभी कुछ हुआ है। वह कथा को प्रगतिशील वनाता है—जैसे उर्मिला-लक्ष्मण संवाद, या दशरथ-कैकेयी संवाद, कहीं चरित्र की अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण करता है—जैसे भरत-कैकेयी का वार्तालाप, मन्थरा-कैकेयी का विवाद अथवा राम और भरत का वर्तालाप; और कहीं वर्णन में सरसता एवं सजीवता लाता है जैसे राम और सीता का प्रणय-परिहास, अथवा सीता-लक्ष्मण का विनोद। अच्छे संवाद की पहिचान यह है कि वह उक्त तीनों उद्देश्यों की सिद्धि करे। साकेत के मन्थरा-कैकेयी संवाद, राम-कैकेयी संवाद ऐसे ही हैं! उनसे कथा आगे वढ़ती है, चरित्र की सूक्ष्म विशेपताओं पर प्रकाश पड़ता है तथा वर्णन में सजीवता और गहराई आती है।

संवाद के गुणों की विवेचना करते हुये आचार्यों ने स्वाभाविकता अर्थात् परिस्थिति और पात्र की अनुरूपता, सजीवता अथवा उद्दीप्ति, गति-शीलता एवं रसात्मकता पर ज़ोर दिया है। साकेत के संवादों में स्वाभाविकता प्रायः मिलती ही है। सब अपनी परिस्थिति और स्वभाव के अनुसार ही बातचीत करते

हैं—अतः उनके भावों में, शब्दों के घुमाव में, वाणी की ध्वनि में अन्तर मिलता है। उदाहरण के लिये लक्ष्मण के वार्तालाप में उनके स्वभाव के अनुसार गर्मी होगी, उर्मिला की बातचीत शील-समन्वित होगी। फिर भी परिस्थिति के अनुसार उसमें वाणी का उतार चढ़ाव सर्वत्र मिलेगा। लक्ष्मण प्रकृति से उग्र हैं, यह उग्रता उनकी बातों में व्यक्त हुये बिना नहीं रहती। अयोध्या में कैकेयी से बात करते करते वे एक साथ असंयत और उग्र हो उठते हैं। यही दशा उनकी चित्रकूट में भरत को ससैन्य आते देखकर होती है और राम से बातें करते हुए वे फिर उसी उग्रता का परिचय देते हैं। परन्तु फिर भी दोनों में परिस्थिति के अनुसार कितना बड़ा अन्तर है। पहले वार्तालाप में जो उग्रता है वह असंयत है और एक राजकुमार के गौरव के प्रतिकूल भी है। दूसरे में परिस्थिति की विभिन्नता के कारण संयम आगया है—अतः शील की हानि नहीं हुई। इसीलिए पहले अवसर पर उग्रता दोष और दूसरे पर गुण बन गई है!

सजीवता अथवा उद्दीप्ति तो साकेत के संवादों की प्राण है। कैकेयी का वार्तालाप सदैव उद्दीप्त (उच्छ्वसित) होगा चाहे वह क्रोध के कारण हो, अथवा अभिमान से या ग्लानि और पश्चाताप-वश। कैकेयी साकेत का कदाचित् सब से अधिक प्राणवान चरित्र है, उसकी कल्पना हम बिना आवेग के नहीं कर सकते। अतः उसके संवादों में जो उच्छ्वास है वह अन्यत्र

नहीं ! और संवादों में भी परिस्थिति और पात्र-स्वभाव के अनुसार यथावाञ्छित सजीवता मिलती है !

सजीवता की उपस्थिति ही प्रायः संवाद को गति-शील बनाने के लिए पर्याप्त होती है। साकेत की कथा जैसा मैं पहिले कह आया हूँ अधिकतर संवादों और दृश्यों द्वारा ही आगे बढ़ती है, अतः उनमें गति-शीलता अनिवार्य है। परन्तु कहीं-कहीं उनमें स्थिरता भी है—उदाहरण के लिए पञ्चम सर्ग में राम, सीता, और लक्ष्मण की विनोद-वार्ता की ओर संकेत किया जा सकता है। परन्तु वह परिस्थिति के प्रतिकूल नहीं है। उस समय, जैसा प्रायः यात्रा के समय होता है, विनोद और परिहास की गति मंथर है। कारण यह है कि वहाँ कथा में रिक्तता है और कार्य काफी दूर है। अतः उसका वास्तविक प्रयोजन तो मार्ग-श्रम को दूर करना ही है। गुह के शब्द—

'परिहास बना वनवास यह'

उक्त अर्थ की सिद्धि की ओर ही संकेत करते हैं !

संवाद के लिए इतना ही बस नहीं है कि वह आवश्यकता की पूर्ति करता चले, उसमें रस होना भी अनिवार्य है अन्यथा कवित्व क्षीण हो जायगा। साकेत के संवाद उपन्यासकार की सृष्टि नहीं हैं। वे कवि की कृति हैं, अतः स्वभावतः उनमें कवित्व है। उर्मिला-लक्ष्मण-संवाद में, राम-सीता-संवाद में, भरत-कौशल्या संवाद में भावुकता का मधुर प्रसाद मिलेगा। उर्मिला और लक्ष्मण का परिहास प्रेम की विभूति है। उसमें

कहीं व्यंग्य है, कहीं मीठी चुटकी, कहीं हलका-सा मान !

लक्ष्मण—'तदपि तुम—यह कीर क्या कहने चला,
कह अरे क्या चाहिये तुझको भला ?
(तोता)—जनकपुर की राज-कुन्ज-विहारिका
एक सुकुमारी सलोनी सारिका !
(देख निज शिक्षा सफल लक्ष्मण हँसे,
उर्मिला के नेत्र खंजन-से फँसे।)
उर्मिला— "तोड़ना होगा धनुष उसके लिए !"
लक्ष्मण— "तोड़ डाला है उसे प्रभु ने प्रिये !
सुतनु टूटे का भला क्या तोड़ना ?
कीर का है काम दाड़िम फोड़ना।

(लक्ष्मण कुछ दूर बढ़ जाते हैं, अतः आगे की पंक्ति में बात को साधने का प्रयत्न है)

होड़ दांतों की तुम्हारे जो करे
जन्म मिथिला या अयोध्या में धरे।
उर्मिला— "और भी तुमने किया है कुछ कभी
या कि सुग्गे ही पढ़ाए हैं अभी !"
लक्ष्मण— "बस तुम्हें पाकर अभी सीखा यही।"

उपर्युक्त संवाद में रसात्मकता का पूर्ण समावेश है। साथ ही उसके नाटकीय गुण भी स्तुत्य हैं। कवि बीच बीच में अपनी ओर से पात्रों की मुद्राओं और भावों का वर्णन करके मानों रंग-संकेत दे रहा हो ! एकाध स्थान पर कवि की कल्पना और श्लेष

का आश्रय भी लेना पड़ा है जिससे परिहास अत्यन्त सूक्ष्म हो गया है :—

उर्मिला बोली—अजी तुम जग गए,
स्वप्ननिधि से नयन कब से लग गए।
लक्ष्मण— 'मोहनी ने मंत्र पढ़ जब से छुआ,
जागरण रुचिकर तुम्हें जब से हुआ।

इस अवतरण में स्वप्न-निधि और जागरण के लिंग को दृष्टि में रखकर परिहास किया गया है। अतः वह बड़ा सूक्ष्म हो गया है।

यहाँ तक जिन विशेषताओं का निर्देश किया गया है, वे किसी न किसी रूप में थोड़ी बहुत अनेक लेखकों में मिल सकती हैं। परन्तु साकेतकार को तो संवाद में खास कमाल हासिल है। इसलिए उसमें और भी अनेक सूक्ष्म विशेषताएँ मिलती हैं जिनका आधार मानव-मनस्तत्व का गंभीर परिज्ञान हैं।

वर्तालाप एक सामाजिक गुण है। मुसलमानों के साधारण जीवन का तहज़ीबे गुफ़्तगू (Art of conversation) एक मुख्य अंग है। उनकी बातचीत की तमीज़ अनुकरणीय है। योरोप में भी एक नवयुवक का सबसे बड़ा आकर्षण बातचीत करने की कुशलता ही है। वहां फैशन की संचालिका नवयुवती है उसके लिए सबसे प्रधान वशीकरण (जैसा कि गत वर्ष एक अमेरिकन समाचार-पत्र में सप्रमाण प्रकाशित हुआ था) है आर्ट ऑव कनवरसेशन! उसके आवश्यक उपकरण क्या हैं यह

कहना बड़ा कठिन है फिर भी क्या हम साधारणतया नहीं कह सकते कि बातचीत के लिए रोचकता सबसे प्रथम और अन्तिम गुण है। अब प्रश्न यह है कि रोचकता का समावेश कैसे हो ? रोचकता भी बड़ा सूक्ष्म गुण है और निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता कि कब किस प्रकार वार्तालाप में रोचकता आ जाती है, किंतु प्रायः तीन तत्व उसमें मिलते हैं—प्रत्युत्पन्नमति (हाज़िर-जवाबी), सौजन्य (ettiquette) और संगति ! साकेत के संवादों में ये विशेषताएं सर्वत्र मिलती हैं। उसके प्रायः सभी पात्र प्रत्युत्पन्नमति हैं—कहीं कहीं एक शब्द में ही वे ऐसा उत्तर देते हैं कि श्रोता मूक हो जाता है !

राम और रावण के उत्तर प्रत्युत्तर सुनिए—

रावण:— पञ्चानन के गुहाद्वार पर रक्षा किसकी ?
मैं तो हूँ विख्यात दशानन सुधि कर इसकी !
राम:— (हँस बोले प्रभु)तभी द्विगुण पशुता है तुझ में ?
तू ने ही आखेट रंग उपजाया मुझ में ?

इसी प्रकार ज़ब लक्ष्मण मेघनाद की यज्ञशाला में पहुँचते हैं तो वह एक साथ उनको देखकर हत-प्रभ हो जाता है और कहता है—

……कैसे तू आया ?
घर का भेदी कौन यहां जो तुझ को लाया।

लक्ष्मण की स्थिति इस समय कुछ विषम थी। वे अनुचित समय पर आए थे, दूसरे यह भी सत्य ही था कि उनको विभी-

षण द्वारा यह भेद मिला था, और उधर मेघनाद ने भी यह बात ताड़ ली थी, अतः उसे ऐसे अवसर पर वे क्या उत्तर देते ? किंतु देखिये लक्ष्मण उसकी बात को बड़ी सफाई से उड़ा जाते हैं—और अपनी स्थिति रक्षा करते हुए ऐसा जवाब देते हैं कि फिर उसे कुछ कहते ही नहीं बनता ! बस शीघ्र ही बातचीत का रुख दूसरी ओर बदल जाता है :—

अरे काल के लिए कौन पथ खुला नहीं है ?

× × ×

मैं हूँ तेरा अतिथि, युद्ध का भूखा, ला तू,
करले कुछ तो धर्म, अतिथि देवो भव, आ, तू !

उपर्युक्त उत्तर में तीक्ष्णता तो है ही, साथ ही वह प्रसंग में भी पूरे तौर से फिट हो गया है !

ये उदाहरण क्रोध और व्यंग्य के रहे ! साकेत में और कई स्थल ऐसे हैं जहाँ कोमल प्रसंगों में भी इसी प्रकार की प्रत्युत्पन्न मति का चमत्कार है ।—राम की विपत्तियों का समाचार सुनकर भरत की ग्लानि फिर से उभर आती है और वे शत्रुघ्न से सहसा पूछ उठते हैं 'लोग भरत का नाम आज कैसे लेते हैं ।' उनकी धारणा थी कि जनता उन्हें इन सभी झंझटों का मूल कारण समझती होगी—और स्वभावतः सबके हृदयों में उनके प्रति घृणा की भावना व्याप्त होगी ! भरत के निर्मल अन्तःकरण में ऐसी शंका का उठना सर्वथा स्वाभाविक था । इसका समाधान करने के लिए समय की आवश्यकता थी—और कहना सुनना

भी काफी पड़ता। परन्तु शत्रुघ्न एक शब्द में ही उसको शांत कर देते हैं—

आर्य, नाम के पूर्व 'साधु' पद वे देते हैं !

इस उत्तर में भरत की ग्लानि को समझना और उसका इस प्रकार समाधान करना कि भरत फिर कुछ न कह सके, असाधारण कौशल का द्योतक है !

प्रत्युत्पन्न मति का यह चमत्कार प्रायः शब्द-चमत्कार के आश्रित रहता है। अच्छी बातचीत करने वाला प्रतिपक्षी के किसी शब्द अथवा वाक्य विशेष को पकड़ लेता है और उसको दूसरा टर्न देता हुआ उसी के द्वारा प्रयोक्ता को निरुत्तर करने का प्रयत्न करता है ! भरत-राम के वार्तालाप में 'अभीप्सित' शब्द की यही स्थिति है। राम-कैकेयी के वाद-विवाद में 'जनकर जननी भी जान न पाई जिसको !—इस वाक्य का भी उपयोग इसी प्रकार किया गया है। यह संवाद का एक विशेष गुण है, परन्तु इसके लिए भाषा पर वृहत् अधिकार अपेक्षित है !

इस प्रकार के उत्तरों में एक विशेष चमत्कार मिलता है, उनसे श्रोता चकित और मूक हो जाता है। परन्तु वे हमें आश्वस्त करने में सदैव सफल नहीं होते। आश्वासन के लिए युक्ति और संगति की आवश्यकता होती है जिनके बिना दूसरा व्यक्ति निरुत्तर होने पर भी संतुष्ट नहीं होता। अच्छे वार्तालाप में संगति होना अनिवार्य है। साकेत के संवादों में यह विशेषता तो प्रायः सर्वत्र ही मिलेगी। चित्रकूट का प्रसंग है। भरत को ससैन्य

आते देख लक्ष्मण भड़क उठते हैं। राम उनको समझाने का प्रयत्न करते हैं। इस समय दोनों में काफ़ी गर्म बातचीत होती है, जिसमें युक्ति का चमत्कार दर्शनीय है!

राम:— भद्रे, न भरत भी इसे* छोड़ आए हों
मातृ-श्री से भी मुँह न मोड़ आए हों!
लक्ष्मण, लगता है यही मुझे हे भाई,
पीछे न प्रजा हो पुरी शून्य कर आई!
लक्ष्मण— आशा अन्तःपुर-मध्य वासिनी कुलटा,
सीधे हैं आप परन्तु जगत है उलटा।
जब आप पिता के वचन पाल सकते हैं,
तब माँ की आज्ञा भरत टाल सकते हैं?
राम— भाई कहने को तर्क अकाट्य तुम्हारा,
पर मेरा ही विश्वास सत्य है सारा।
माता का चाहा किया राम ने आहा,
तो भरत करेंगे क्यों न पिता का चाहा।

विज्ञ पाठक दोनों भाइयों के उपर्युक्त (रेखाङ्कित) तर्कों को पढ़ कर उनका संतोलन करें—कितना सबल तर्क है—उन्हीं शब्दों में उसी युक्ति को लौट कर राम ने लक्ष्मण को परास्त कर दिया। युक्तियों के दाँव-पेच राम-जाबालि संवाद में काफ़ी हुए हैं। परन्तु वहाँ युक्ति का चमत्कार होने पर भी भावुकता साथ नहीं देती। उसमें कहीं कहीं शब्द-संघटन कुछ हास्यास्पद-सा हो गया है—

---

* राज्य को।

हे तरुण, तुम्हें संकोच और भय किसका ?
हे जरठ, नहीं इस समय आपको जिसका ?

'हे जरठ' को सुनकर पाठक बिना हँसे नही रह सकता।

तीसरा गुण है सौजन्य (ettiquette) जो एक नागर-भाव है। नागर शब्द से नगरवासियों का ही बोध नहीं होता—यह तो एक विशेषण है जो वाञ्छित गुणों के होने पर, ग्रामवासियों के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है। बातचीत को सरस और मधुर बनाने के लिए इसकी उपादेयता असंदिग्ध है। वैसे तो सौजन्य शब्द से स्वाभाविक शील का ही तात्पर्य है परन्तु आजकल कुछ कृत्रिम शब्दावली भी उसके लिए वाञ्छित हो गई है। गुहराज और राम-सीता की बातचीत में इसका सुन्दर प्रयोग हुआ है—

गुहराज—सहसा ऐसे अतिथि मिलेंगे कब किसे ?
क्यों न कहूँ मैं अहोभाग्य अपना इसे।
पाकर यह आनन्द-सम्मिलन-लीनता,
भूल रही है आज मुझे निज हीनता।
मैं अभाव में भाव देखता हूँ तुम्हें,
निज गृह में गृह नहीं, देखता हूँ तुम्हें।

सीता से— भद्रे, भूले नहीं मुझे आह्लाद वे,
मिथिलापुर के राज-भोग हैं याद वे।
पेट भरा था किन्तु भूख तब भी रही,
एक ग्रास में तृप्त न कर दूँ तो सही,

राम— वचनों से ही तृप्त हो गये हम सखे,
करो हमारे लिए न अब कुछ श्रम सखे।
वन का व्रत हम आज छोड़ सकते कहीं,
तो भाभी की भेंट छोड़ सकते नहीं।

ऊपर दिया हुआ संवाद सर्वथा आधुनिक है। उसमें आधुनिक सौजन्य की छटा दर्शनीय है।

संवाद गुप्तजी की शैली की प्रमुख विशेषता है। उनके कथानक प्रायः संवादों की सहायता से ही आगे बढ़ते हैं—इसी कारण उनमें नाटक के गुण पाये जाते हैं। वकसंहार, वन-वैभव आदि में भी इनका सम्यक् प्रयोग है—उनकी प्रौढ़ कृतियों में इस कला का और भी विकास हुआ है। पञ्चवटी में संवाद बड़े मधुर हैं—उनकी चुटकियाँ बड़ी मीठी हैं। साकेत में आकर वे पूर्णतया सम्पन्न हो गए हैं। उनमें सभी गुणों का समावेश मिलता है—विशेषकर प्रत्युत्पन्नमति और संगति का। हाँ उनके एक दोष की ओर सरलता से संकेत लिया जा सकता है, वह यह कि साकेत के लगभग सभी पात्रों में यह विशेषता मिलती है और तर्क करते समय प्रायः सभी एक ही पद्धति का अनुसरण करते हैं—जिससे वैचित्र्य की क्षति होती है। परन्तु कदाचित् वह कवि की अपनी कमजोरी है।

अभिव्यञ्जना-कौशल

अपने कथन को सप्रभाव और हृदयस्पर्शी बनाने के लिए कवि-समाज अनिवार्य-रूप से भिन्न भिन्न अभिव्यञ्जना-

प्रणालियों का प्रयोग करता आया है ! बात को सीधे सादे कहना हमेशा कारगर नहीं होता। अतः हम सभी को, विशेषकर कवि-लेखकों को, किसी न किसी प्रकार उसमें चमत्कार और शक्ति का समावेश करना पड़ता है। अंगरेज़ी में इसी को रहैटरिक और संस्कृत-हिन्दी में अलंकार-विधान या अप्रस्तुत-योजना कहते हैं ! इसमें प्रभाव-वृद्धि के लिए कथन की साधारण शैली को छोड़ एक प्रकार की विचित्रता का आश्रय लेना पड़ता है।

पूर्व और पश्चिम में सभी जगह अलंकारिकों ने इन प्रणालियों की संख्या परिमित-सी कर दी है परन्तु वास्तव में कब कोई व्यक्ति अपने कथन में किस प्रकार चमत्कार का समावेश कर सकता है, यह कहना कठिन है। इसलिए इनको संख्या-बद्ध करना साधारणतः सम्भव नहीं। आजकल हमारे साहित्य में अभिव्यञ्जना-वाद के प्रभाव के कारण पुरानी रीति नीति में बड़ा परिवर्तन होगया है। अब किसी कवि के अप्रस्तुत-विधान की विवेचना करते समय 'कौनसा अलंकार है ?' अथवा 'कितने अलंकार प्रयुक्त हुए हैं ?' यह खोज करना विशेष अर्थ नहीं रखता और वास्तव में इस नाम—परिगणन से काव्य के कलात्मक स्वरूप पर कोई विशेष प्रकाश भी नहीं पड़ता। उसके लिए तो हमें यह जानना चाहिए कि कवि ने अपने कथन को सप्रभाव बनाने के लिए किस प्रणाली का आश्रय लिया है और उसका मनोवैज्ञानिक आधार क्या है ? एक ओर संस्कृत का अलङ्कार-शास्त्र है जो अलङ्कार को वस्तु से पूर्णतया स्वतंत्र मानता

है और दूसरी ओर है क्रोसे का अभिव्यञ्जनावाद, जो अलंकार और अलंकार्य्य की एकांत अभिन्नता का प्रतिपादन करता है! हमारा मार्ग दोनों का मध्यवर्ती समझना चाहिए!

साकेत में गुप्तजी के कवि जीवन का पूर्ण-वैभव मिलता है। अतः उसका कलेवर अलंकृत है—उसकी काव्य-श्री मण्डित! उसमें शकुन्तला का वन्य-सौन्दर्य्य नहीं, उर्वशी का नागरिक विलास है! यहाँ उनकी प्रतिभा ने कविता को नई नई शृङ्गार-सामग्री से चित्र-विचित्र सजाया है। इसीलिए अतिशय भाव-पूर्ण स्थलों को छोड़—अन्यत्र वह शायद ही निरावरण मिले!

समान अप्रस्तुत-योजना का आधार :—

१—साधर्म्य और प्रभाव-साम्य—उक्ति में वैचित्र्य लाने के लिए सबसे सरल किन्तु सब से व्यापक पद्धति है प्रस्तुत के लिए अप्रस्तुत का विधान—विशेष कर समान अप्रस्तुत का! यह समानता सादृश्य और साधर्म्य के भेद से पौर्वात्य और पाश्चात्य साहित्य के अनेक अलंकारों की मूल-प्रेरणा है! वस्तु का सजीव वर्णन करने के लिये सादृश्य और भाव को तीव्र करने के लिये साधर्म्य का प्रयोग होता आया है। परन्तु आज कल रूप-चित्रण की वैज्ञानिक प्रणालियों का प्रचार बढ़ जाने से, और दूसरे सदृश उपमानों के पुराने पड़ जाने के कारण सादृश्य का महत्व बहुत कुछ घट गया है। उधर साथ ही भाव क्षेत्र विस्तृत और भाषा की शक्ति विकसित हो गई है इसलिये सादृश्य और साधर्म्य से भी अधिक प्रभाव-साम्य का

गौरव बढ़ गया है ! साकेत में इस प्रकार का अप्रस्तुत-विधान अनेक स्थानों पर हुआ है—उसकी रमणीयता अद्भुत है ! कुछ उदाहरण लीजिये ।

(१) रथ मानों एक रिक्त घन था,
जल भी न था न वह गर्जन था ।

यहां सूने रथ की रिक्त घन से समानता दिखाई गई है । रथ का और घन का कोई सादृश्य नहीं परन्तु रिक्त घन में जो अभाव और सूनापन होता है वह रथ की शून्यता (रामहीनता) को व्यक्त करने में बड़ा सहायक हुआ है। रीते बादल जिस प्रकार अपना सब कुछ लुटाकर मंथर गति से शांत लौटते हैं इसी प्रकार वह रथ राम को छोड़ कर आरहा था। घोड़ों में कोई उत्साह नहीं था, सारथी व्यथा-विमूढ़ था । अतः उसकी गति में किसी प्रकार का जीवन नहीं रह गया था । वह उस सूने पथ पर अनन्त मार्ग में मंथर गति से खिसकते हुए बादलों के समान चल रहा था। यहां साधर्म्य ही है, प्रभाव-साम्य भी रिक्तता के भाव में मिल जाता है ।

(२) बढ़ी तापिच्छ-शाखा-सी भुजाएं,
अनुज के ओर दाएं और बाएं,
जगत संसार मानों क्रोड़-गत था,
क्षमा-छाया तले नत था निरत था ।

उक्त उद्धरण में प्रस्तुत राम के क्रोड़ के लिये अप्रस्तुत क्षमा छाया का प्रयोग किया गया है । यहां प्रस्तुत मूर्त और अप्रस्तुत

अमूर्त है। दोनों में साधर्म्य तो है ही, परन्तु विशेषता प्रभाव-साम्य की है। राम के क्रोड़ में क्षमा की शांति और एक प्रकार की सघनता थी। क्षमा शब्द से सघनता का भान आपसे आप हो जाता है। उधर राम के क्रोड़ में भी यही बात है। छाया शब्द में राम की श्यामता का प्रतिबिम्ब है।

(२) विमाता बन गई आंधी भयावह
हुआ चंचल न फिर भी श्यामघन वह।
पिता को देख तापित भूमि-तल-सा
बरसने लग गया वह वाक्य-जलसा।

यहाँ भी साधर्म्य के बल पर ही इस प्रचुर अलंकार-सामग्री का प्रयोग हुआ है। विमाता आंधी, राम श्याम-घन, पिता तप्त-भूमि-तल, राम के वाक्य जल! उधर प्रभाव की दृष्टि से भी कैकयी के क्रोध के उपरान्त राम के विनम्र वचन दशरथ के लिए ठीक वैसे ही हैं जैसा तूफ़ान के बाद मेघ-वृष्टि का होना भूमि के लिये! रूपक साङ्गोपांग है—इसमें पूर्ण स्वाभाविकता है। ऐसा ही एक और रम्य उदाहरण लीजिए—

अरुण-पूर्व उतार तारक हार,
मलिन-सा सित-शून्य अम्बर धार,
प्रकृति-रञ्जन-हीन दीन, अजस्र,
प्रकृति विधवा थी भरे हिम अस्र।

समान अप्रस्तुत योजना के आधार—

२—सम्बन्ध—कहीं कहीं साधर्म्य का भी लोप हो गया है

और प्रभाव-साम्य का आधार भी क्षीण हुआ जान पड़ता है

निद्रा भी उर्मिला-सदृश घर ही रही

यहाँ निद्रा और उर्मिला में कोई साधर्म्य नहीं है, यदि कल्पना की सहायता ली जाये तो दोनों में प्रभाव-साम्य अवश्य मिल जायगा! निद्रा का और उर्मिला का प्रभाव लक्ष्मण के लिए सुखकर था, यह समानता खोज निकालनी पड़ेगी। परन्तु यहाँ उपमा की भावमयता बढ़ी है वास्तव में निद्रा और उर्मिला का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण। इस उक्ति में—'निद्रा उर्मिला के घर रहने से वैसे ही छूट गई—अथवा लक्ष्मण का निद्रा-सुख तो उर्मिला के साथ ही रह गया'—यह भाव व्यंग्य है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह उपमा सर्वथा अछूती है—और उपमान का प्रस्तुत से निकट सम्बन्ध होने के कारण भाव में अत्यधिक तीव्रता आ गई है यही बात

प्रणति मिस निज मुकुट सर्वस्व देकर

में है। मुकुट का और प्रणति (माथा टेकने) का बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध है, इसीलिए अप्रस्तुत प्रस्तुत से अविभक्त है!

समान अप्रस्तुत योजना के आधार :—

२—सादृश्य—साधर्म्य और प्रभाव-साम्य के उदाहरण अधिक होने पर भी, सादृश्य का तिरस्कार नहीं किया जा सकता। साकेत में कहीं कहीं बिम्ब-प्रतिबिम्ब रूप को बड़े सूक्ष्म कौशल से ग्रहण किया गया है! 'जिस पर पाले का एक पर्त-सा छाया,

हत जिसकी पंकज-पंक्ति, अचल-सी काया,

उस सरसी-सी आभरण-रहित सित-वसना
सिहरे प्रभु माँ को देख हुई जड़ रसना

इस चित्र में कवि ने कौशल्या के विधवा-वेश को अङ्कित करने में सादृश्य का बड़ा ही सूक्ष्म-विधान किया है। इसमें सादृश्य के कई-कई तत्त्व हैं इसीलिए रूप का बिम्ब बड़ा पूर्ण उतरा है! एक चित्र और देखिए—

निरख शत्रु की स्वर्ण-पुरी वह मुझे दिशा-सी भूली थी
नील जलधि में लंका थी या नभ में सन्ध्या फूली थी!

इस प्रकार का सादृश्य-विधान रूप-चित्रण का बड़ा ही सुन्दर उपादान है!

समान अप्रस्तुत योजना के आधार:—

४—मूर्त्त-अमूर्त्त—साधारण कवियों का अनुभव-क्षेत्र संकीर्ण होने के कारण, वे प्रायः मूर्त प्रस्तुत के लिए मूर्त अप्रस्तुत का ही प्रयोग करते हैं। उनकी अनुभूति स्थूल तक ही सीमित रहती है। रीति-काल के अधिकतर कविंद ऐसा ही करते रहे! परन्तु प्रतिभाशाली कलाकार मूर्त प्रस्तुत के लिए अमूर्त अप्रस्तुत और अमूर्त के लिए मूर्त प्रस्तुत का प्रयोग कर के काव्य का चमत्कार बढ़ा देते हैं। कभी-कभी हम देखते हैं कि कुछ सूक्ष्म भाव हमारे निकट स्थूल-वस्तुओं की अपेक्षा अधिक स्पष्ट होते हैं। उनकी अनुभूति हमें इतनी तीव्र होती है कि बहुत से मूर्त तथ्यों को समझने के लिए भी उनका आश्रय लेना पड़ता है! मूर्त उपमेय के लिए अमूर्तउपमान का प्रयोग इसी मनोवैज्ञानिक आधार पर किया

जाता है—उससे भाव की तीव्रता बढ़ जाती है! साकेत में कवि लंका का वैभव वर्णन करने के उपरांत वैदेही की स्थिति की ओर संकेत करना चाहता है—उसके लिए वह अमूर्त अप्रस्तुत का उपयोग करता है—

उस भव-वैभव की विरक्ति-सी वैदेही व्याकुल मन में।

इसी प्रकार, लक्ष्मण शक्ति के कारण शोक-संतप्त समाज में, जड़ी लेकर एक साथ हनूमान का आ जाना, कवि को ऐसा प्रतीत हुआ मानो,

बुरे स्वप्न में वीर आ गया उद्बोधन-सा!

स्वप्न उस शोक-संताप का उपमान है और उद्बोधन हनूमान का। दोनों में पृथक रूप से काफ़ी समानता है। राम का शोक-संताप आस्तिक कवि के निकट मिथ्या था, उधर रात का समय भी स्वप्न से सम्बन्ध रखता है; और चिर-सजग हनूमान को तो उद्बोधन कहना मानो उनका सूक्ष्म भावमय रूप ही उपस्थित कर देना है। परन्तु इस पृथक साम्य से अर्थ की पूर्ति नहीं होती—उसके लिए तो सम्पूर्ण घटना को ही लेना पड़ेगा! तभी वातावरण का सजीव चित्र सम्मुख आ सकेगा। यहाँ प्रभाव-साम्य ही है।—ठीक ऐसे ही कुछ अमूर्त भावनाएँ हमारे निकट इतनी स्पष्ट होती हैं कि हम उनको मूर्त रूप में ही देखते हैं। संस्कृत के अलंकार-शास्त्र में रसों का वर्ण विभाजन इसी के आधार पर हुआ है। ऐसा करने के लिए कवि को मनोविज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म परिचय होना चाहिए। साकेत में

इस प्रकार का भी विधान मिलता है—

१—फिर भी एक विषाद वदन के तपस्तेज में बैठा था,
मानों लौह-तन्तु मोती को बेध उसी में पैठा था!
२—या कि विधु ने क्यों नहीं की म्लानि,
दूर भी विम्बित हुई गृह-ग्लानि ।

इस जगह पहिले उदाहरण में कवि ने विषाद को लौह-तन्तु के रूप में अनुभव किया है और माण्डवी के तेज दीप्त मुख मण्डल को मोती के रूप में। लौह-तन्तु से जिस प्रकार मोती की स्वाभाविक शोभा में व्याघात पड़ता है उसी प्रकार विषाद के कारण माण्डवी का तपस्तेज स्वाभाविक रूप में प्रकाशित नहीं हो रहा था। दूसरे उदाहरण में भी ग्लानि का रंग इसी आधार पर म्लान माना गया है!

अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का आच्छादन :— यहाँ तक तो जिस अप्रस्तुत—योजना का विवेचन किया, उसमें प्रस्तुत की ही प्रधानता थी। परन्तु हमारे साहित्य में आजकल पश्चिम के प्रभाव के कारण प्रस्तुत की महत्ता कुछ घट रही है—अप्रस्तुत ने प्रस्तुत को एक प्रकार से आच्छादित कर लिया है! संस्कृत साहित्य के रूपकातिशयोक्ति, अन्योक्ति, अप्रस्तुत-प्रशंसा आदि अलंकारों में ऐसा होता है, परन्तु वहां प्रायः प्रस्तुत पर ध्यान जमा रहने से अप्रस्तुत का सुन्दर विधान नहीं हो पाता। इसी कारण उपरोक्त अलंकार साधारण दर्जे के अलंकार माने गये हैं और उनके बहुत थोड़े उदाहरण ही सत्काव्य की

कोटि में आ सकेंगे! परन्तु आजकल कवि प्रस्तुत की इतनी अधिक चिन्ता नहीं करते। वह तो व्यंग्य रहता है।:

सखि नील-नभस्सर में उतरा,
यह हंस अहा तरता-तरता।
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,-
निकला जिनको चरता चरता!
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता-धरता।
गढ़ जायँ न कण्टक भूतल के
कर डाल रहा डरता-डरता।

'यह प्रातःकाल की अप्रस्तुत-योजना है। सूर्योदय के कारण तारागण के विलीन होने और धीरे धीरे रश्मियों के पृथ्वी तल पर पहुंचने का अच्छा वर्णन है। उत्कृष्ट अप्रस्तुत-योजना में प्रस्तुत गूढ़ व्यङ्ग नहीं रक्खा जाता। उपर्युक्त योजना में प्रस्तुत का स्वरूप बड़ी सुन्दरता से झांक रहा है।

प्रस्तुत के स्थान पर प्रतीक का प्रयोग:— इस शैली से मिलती जुलती एक और शैली है जिसमें उपमान का नहीं वरन् प्रतीकों का उपयोग किया जाता है और उपमेय अथवा प्रस्तुत सर्वथा प्रच्छन्न रहता है।

(१) उधर अट्ट पर दीख पड़ा गृह-दीपक मानो।

(२) किसने मेरी स्मृति को बना दिया है निशीथ में मतवाला।
नीलम के प्याले में तारक-बुद्बुद देकर उफन रही वह हाला।

यहाँ पहिले उदाहरण में गृह-दीपक प्रतीक होकर सुपुत्र की व्यञ्जना करता है दूसरे उद्धरण की दूसरी पंक्ति में प्रस्तुत आकाश के लिये अप्रस्तुत नीलम के प्याले का, और रात्रि की मादक शोभा के लिये हाला का प्रयोग हुआ है। रात्रि की सौन्दर्य-श्री वियोगिनी को पागल बना रही है। यही भाव यहाँ व्यंग्य है। ऐसा विधान करने के लिये प्रायः प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है अन्यथा अर्थ समझने में बड़ी कठिनाई पड़े। उपरोक्त प्रसंग में हाला तो प्रसिद्ध प्रतीक है ही नीलम का प्याला भी आकाश के इतना निकट है कि उसको भी प्रतीक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

प्रस्तुत वर्णन के पीछे अप्रस्तुत चेतन-चित्र :— आजकल काव्य में प्रकृति-चित्रों की विशेषता होने के कारण हमें प्रायः एक बड़ा विचित्र अप्रस्तुत-विधान मिलता है। यहाँ प्रस्तुत होती है प्रकृति और अप्रस्तुत रूप में उनके पीछे नारी अथवा कोई अन्य चेतन-चित्र झाँकता रहता है। प्रकृति में मानव-व्यापारों की योजना द्वारा यह विधान किया जाता है। हमारे साहित्य में समासोक्ति द्वारा इसकी सिद्धि होती है, पश्चिम में प्रायः मानवीकरण की सहायता से। साकेत में ऐसे चित्र स्थान स्थान पर मिलते हैं :—

तारक-चिन्ह-दुकूलिनी पी पीकर मधु-मात्र
उलट गई श्यामा यहाँ रिक्त सुधाधर-पात्र।

इस दोहे में प्रधान रूप से तो चन्द्रमा पर उत्प्रेक्षा है। विरहिणी को चन्द्रमा ऐसा प्रतीत होता है मानों रीता सुधा-पात्र हो। उसकी सहायता के लिये श्लेष और समासोक्ति को ग्रहण किया

गया है। परन्तु वास्तव में वर्णन मुख्य है रात्रि का—उसके पीछे गणिका का चित्र झाँक रहा है। एक और उदाहरण लीजिये—

अरुण सन्ध्या को आगे ठेल
देखने को कुछ नूतन खेल,
सजे विधु की बेंदी से भाल,
यामिनी आपहुँची तत्काल।

यहां भी सन्धि-समय का वर्णन प्रस्तुत है। उसके पीछे सखी को ठेल कर आगे बढ़ती हुई नायिका का चित्र है।

उक्ति में वैचित्र्य लाने की और भी विभिन्न शैलियाँ हैं जो प्रायः भाषा की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता पर अवलम्बित हैं। कुछ भावनाएं अथवा गुण कभी कभी हमारे मन में इतने तीव्र हो उठते हैं कि हम उनकी अमूर्तता भूल जाते हैं और इसीलिए उनमें कर्तृत्व का आरोप कर देते हैं। इस प्रकार भाव तो तीव्र होता ही है, कथन में एक अद्भुत नवीनता आजाती है। साकेत के भरत भ्रातृ-भावना के मूर्तिमान स्वरूप हैं, इसी लिए तो माण्डवी कहती है—

'मेरे नाथ जहाँ तुम होते दासी वहीं सुखी होती'
किन्तु विश्व की भ्रातृ-भावना यहाँ निराश्रित ही रोती।

इसी प्रकार 'लज्जा ने घूंघट काढ़ा' में यह व्यञ्जित है कि सीता की लज्जा मूर्तिमन्त हो गई और उसने स्वयं हाथ बढ़ाकर सीता का घूंघट काढ़ दिया!

२—भावनाओं में मानव-गुणों (अंगों) का आरोप—कभी कभी बहुत बढ़ जाती है और यह मूर्तिमत्ता कवि प्रभाव-वृद्धि के लिए सूक्ष्म भावनाओं में मानव-गुणों (अंगों) का आरोप कर देता है। अंगरेज़ी में यह मानवीकरण एक अलंकार ही है—

श्रुति-पुट लेकर पूर्व-स्मृतियाँ खड़ी यहाँ पट-खोल,
देख आप ही अरुण हुए हैं, उनके पाण्डु कपोल।

उक्त उदाहरण में पूर्व स्मृतियों को नारी-रूप में देखा गया है। वे श्रुति-पुट लेकर (उत्कर्ण होकर) पट खोले (उत्सुक) खड़ी हुई हैं। उनके पाण्डु (विरह-कृश) कपोल आप ही आप एक साथ अरुण होने लगे हैं। यहाँ पूर्व-स्मृति का कवि के मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि वह उसके सम्मुख मूर्तिमंत होकर खड़ी हो गई। स्मृति में मुंह के रंगों का बदलना (पहिले पीला, फिर लाल होना) स्वाभाविक ही है। उस को कवि ने मूर्त आधार देकर प्रत्यक्ष करने का सफल प्रयत्न किया है। एक और चित्र लीजिए—

'ये गगन-चुम्बित महा-प्रासाद
मौन साधे हैं खड़े सविषाद!
शिल्प-कौशल के सजीव प्रमाण,
शाप से किसके हुए पाषाण!
या अड़े हैं मेटने को आधि,
आत्म-चिंतन-रत अचल समाधि!

किरण-चूड़ गवाक्ष लोचन मींच
प्राण ले ब्रह्माण्ड में निज खींच !

व्यक्ति के स्थान पर गुण का ग्रहण—इसका विपरीत रूप भी है, जिसमें व्यक्ति के स्थान पर गुण का ग्रहण किया जाता है। यहाँ किसी व्यक्ति का कोई गुण इतना प्रधान हो जाता है कि उसमें वह गुण ही गुण दिखाई देता है—अर्थात् उसका व्यक्तित्व तो लुप्त हो जाता है और वह गुण ही उसका प्रतीक बन जाता है। यह बात अंग में भी घटती है। मौलवी साहब में डाढ़ी की प्रधानता होने से उनके शागिर्द पीछे उन्हें 'डाढ़ी' कहा करते हैं—

'राक्षसता उनको विलोक कर थी लज्जा से लोहित-सी।'

यहाँ खर-दूषण आदि के लिये राक्षसता का अतिशयता के कारण, प्रयोग हुआ है।

अलंकारिक दृष्टि से इन सभी के मूल में प्रयोजनवती लक्षणा है। कुशल कवि के हाथों में शब्द की इस शक्ति द्वारा अद्भुत कार्य सिद्ध होते हैं परन्तु कहीं कहीं अनर्थ भी हो जाता है जो प्रायः लक्षणा पर लक्षणा चढ़ा देने से होता है। आचार्य शुक्ल ने प्रसादजी के 'अभिलाषाओं की करवट' प्रयोग की ओर संकेत इसी प्रसंग में किया है। साकेत में भी एक स्थान पर अभिलाषा हिलती डुलती देखी गई है—

कैसी हिलती-डुलती अभिलाषा है।

विशेषण-विपर्यय— 'अभिधा-वृत्ति से विशेषण की जहाँ जगह है, वहाँ से हटाकर लक्षणा के सहारे उसे दूसरी जगह

पर बैठा देने से काव्य का सौष्ठव कभी कभी बहुत बढ़ जाता है। भावाधिक्य की व्यञ्जना के लिये विशेषण-विपर्यय का व्यवहार बहुत सुन्दर है—

सहज-मातृ-गुण-गंध था कर्णिकार का भाग।

में कर्णिकार सहज-मात्र-गुण गन्ध है, भाग नहीं। अथवा—

शशि खिसक गया, निश्चिन्त हँसी हँस बाँकी।

में हँसी निश्चिन्त नहीं, शशि है।

लक्षणा की आश्रित अन्य प्रणालियाँ— लक्षणा के आश्रित और भी नवीन प्रणालियाँ है जिनसे भाषा की वक्रता बढ़ती है कभी कभी आधेय के लिए आधार का प्रयोग किया जाता है— अथवा कर्त्ता के लिए साधन का, या कार्य के लिए कारण का—इत्यादि।

लिपि-मुद्राओ, भूमि-भाग की, दमको दमको!

यहाँ भूमि से तात्पर्य्य भूमि के निवासियों का है क्योंकि जड़ भूमि का मान्य होना सम्भव नहीं है। भूमि कहने से आशय स्पष्टतया व्यापक हो गया है। निवासी अथवा अन्य कोई शब्द उसको संकीर्ण कर देता!

ढाल लेखनी, सफल अन्त में मसि भी तेरी

स्याही की सफलता का अर्थ है (काव्य) अर्थात् कवि की सफलता। स्याही कवि का साधन है! इनसे ही मिलता जुलता एक ढंग है पूर्ण के लिये अंश, अंश के लिये पूर्ण, अथवा जाति के लिये व्यक्ति और व्यक्ति के लिये जाति का प्रयोग। इससे

एक रूप में तो व्यापकता का समावेश होता है दूसरे में तीव्रता की वृद्धि। पूर्ण के प्रयोग से अंश की व्यापकता बढ़ती है और अंश के प्रयोग से पूर्ण की विशेषता—

भव ने इतना भाव-विभव हम से है पाया

यहाँ मानव के लिये भव का प्रयोग हुआ है ! यह तो रही लक्षणा की बात।

व्यञ्जना की आश्रित प्रणालियाँ :—शब्द की सबसे प्रौढ़ शक्ति व्यञ्जना है। संस्कृत रीति-शास्त्र की 'काव्यस्य आत्म ध्वनिः' और अंग्रेजी के आयरनी इनुऐन्डो आदि अलंकार इसी के आश्रित हैं। इसी से उक्ति में वक्रता आती है।

विस्मय क्या है क्या नहीं स्व-मातृ-तनय वे

में ध्वनि का ही संकेत है ! वाक्-संघर्ष अथवा तर्क करते समय प्रायः व्यञ्जना का प्रयोग बड़ा सार्थक होता है। प्रत्येक कुशल वक्ता व्यंग्य का मास्टर होता है। इसीलिए लक्ष्मण-मेघनाद, एवं राम-रावण युद्ध में शारीरिक युद्ध के साथ वाक् युद्ध भी हुआ था। उसमें व्यंग्य के दाँव-पेच अच्छे हुए है।

बैठा है क्यों छिपा अनोखे आयुध-धारी।

इसी प्रकार राम भी रावण से कहते हैं—

'धन्य पुण्य जन धन्य शूरता तुमसे जन की।'

कभी कभी हम किसी बुरी बात को सीधे साधे न कह कर भले शब्दों में कहते हैं

पूर्ण करूंगा यज्ञ आज तेरी बलि देकर

यहाँ लक्ष्मण मेघनाद से 'तुझे मार डालूंगा' न कह कर तेरी बलि देकर यज्ञ पूरा करूँगा ऐसा कहते हैं। उक्त सभी उद्धरणों में तो हम व्यञ्जना को ढूंढ़ निकालते हैं, परन्तु किसी किसी सीधी सादी युक्ति में एक अद्भुत वक्रता आजाती है जिसके आधार का पता लगना सहज सम्भव नहीं होता। ऐसी उक्तियाँ काव्य की विभूति होती हैं उनमें अपूर्व मर्म-स्पर्शिता मिलती है

उड़ा ही दिया मन्थरा ने सुआ!

में यही गुण है। उर्मिला यह नहीं कहती कि मंथरा ने सभी सुख-स्वप्नों पर पानी फेर दिया। उसका तो कहना है—

उड़ा ही दिया मंथरा ने सुआ.

जिससे कथन में जादू का प्रभाव आ गया है। यह उक्ति सर्वथा स्वच्छ है, अलंकार का आवरण इस पर नहीं है। इसमें मुहावरा मान कर लक्षणा का आधार माना जा सकता है—परन्तु सहृदयता विचारे कि क्या इस उक्ति का सौन्दर्य मुहावरे की संकीर्ण परिधि में ही सीमित किया जा सकता है? निस्संदेह इसमें मुहावरे से अधिक कुछ और भी है जो अनिर्वचनीय रहेगा!

किन्तु करेंगे कोक-शोक की तारे जो रखवाली।

इसी का अलंकृत स्वरूप है! इस उद्धरण में शब्द-शक्ति का पूर्ण वैभव मिलेगा। बात साधारण-सी है। तारों के न छिपने से रात का अवसान नहीं हो रहा! इसी को कवि बड़े सुन्दर ढंग से अभिव्यक्त करता है। उसका कहना है तारे कोक-शोक

की रखवाली कर रहे हैं—मानो विधाता ने कोक को रात्रि भर वियोग-पीड़ा सहने का दण्ड दिया हो और उसका निरीक्षण करने के लिए तारों को नियुक्त कर दिया हो। अथवा कोक-शोक भावुक जीवन की निधि है और तारे उसके संरक्षक! कथन का मार्मिक संकेत अपूर्व है जो लक्षणा-व्यंजना के घेरे में नहीं आ सकता।

भाव को समृद्ध करने की अन्य रीतियाँ :—१—अतिशयोक्ति— भाव-वृद्धि में सहायक और भी बहुत सी रीतियाँ हैं जिनका साकेत में स्थान-स्थान पर सफल प्रयोग हुआ है! वैसे तो प्रायः सभी अलंकारों के मूल में अतिशयोक्ति रहती है पर कहीं-कहीं मुख्य-चमत्कार अतिशयोक्ति का ही होता है। दूसरे को प्रभावित करने के लिए हम बात को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर कहते हैं, अथवा भावुकता के कारण कोई बात स्वयं हमारे मन में ही बड़ा विपुल आकार धारण कर लेती है। इस अलंकार का हिन्दी, संस्कृत और फारसी के रीति-साहित्य में बड़ा महत्व रहा है। उसके साथ बड़ी खिलवाड़ हुई है—बड़ी उड़ानें ली गई हैं। परन्तु वास्तव में मनोवैज्ञानिक आधार से च्युत हो जाने के कारण इनमें प्रायः सरसता नहीं मिलती। साकेत में इसके कुछ उदाहरण बड़े सुन्दर हैं—

१— नाव चली या स्वयं पार ही आगया।

२—वह मानों कुछ दूर शून्य पथ भी मुड़ा।

दोनों उदाहरणों में कवि को जमीन आसमान के कुलाबे नहीं

मिलाने पड़े—उसने प्रस्तुत में ही कल्पना द्वारा अतिशयोक्ति का चमत्कार उत्पन्न किया है। दूसरा अवतरण अतिशयोक्ति-गर्भ उत्प्रेक्षा का सुन्दरतम उदाहरण है। राम के रथ के घोड़े इतने तेज़ जा रहे थे कि धूल आदि तो पीछे रह ही गईं, स्वयं शून्य (अनन्त) पथ भी साथ न चल सका। सीधी सड़क पर भी कुछ देर के बाद ही मोटर दृष्टि-ओझल हो जाती है। ऐसे प्रसंग में यह कल्पना कि सड़क भी उसके साथ न चल कर पीछे मुड़ आई कितनी सटीक, समयोचित और स्वाभाविक है।

२—प्रसंग-गर्भत्व:—एक दूसरी युक्ति है प्रसंग-गर्भत्व। इससे अर्थ-गौरव की वृद्धि होती है और साहित्य के पण्डितों को एक विशेष आनन्द मिलता है। संसार के सभी पण्डित कवियों ने इस प्रणाली का उपयोग किया है; मिल्टन तो इसके लिए बदनाम है! 'गङ्गायां घोषः' साहित्य-शास्त्र के विद्यार्थियों का चिर-परिचित वाक्य है। लक्षणा-व्यञ्जना का रूढ़ उदाहरण होने से एक प्रकार से यह ऐतिहासिक हो गया है। कवि ने राम सीता की नाव के लिए इसका बड़ा कुशल व्यवहार किया है—

बैठीं नाव निहार लक्षणा व्यञ्जना
'गंगा में गृह' वाक्य सहज वाचक बना।

इसमें मोटी अलंकारिक दृष्टि से चाहे दोष ही हो परन्तु प्रसंग में यह इतना फिट हुआ है कि कवि की अनोखी सूझ की दाद दिए बिना रहा नहीं जा सकता! कुछ और भी ऐसे ही प्रयोग हैं जिनमें न्यूनाधिक चमत्कार मिलता है—

करुणे, क्यों रोती है ? 'उत्तर' में और अधिक तू रोई—
'मेरी विभूति है जो उसको, 'भव-भूति' क्यों कहे कोई ?'

को पढ़ते ही भवभूति का उत्तर रामचरित और उसका प्रसिद्ध कथन 'एकोरसः करुण एव' पाठक के मस्तिष्क में उठते चले आते हैं ।

अज्ञान भला जिसमें,
सोऽहं तो क्या स्वयं अहं भी कब है ?

उक्त सभी अवतरणों में प्रसंग-गर्भत्व के द्वारा उक्ति का अर्थ गांभीर्य बढ़ता है, परन्तु एक-आध स्थान पर उसका प्रयोग किसी प्रकार की अर्थ-सिद्धि नहीं करता और साथ ही अत्यधिक गूढ़ भी है—

तो गज-भुक्त-कपित्थ-तुल्य वह निष्फल होगा अपने आप ।

कथन की शैली उक्ति में चमत्कार लाने की युक्तियां:—यहाँ तक जिन प्रणालियों का विवेचन किया गया है उनके द्वारा उक्ति में एक प्रकार की आन्तरिक विचित्रता आती है। वे लगभग सभी भाव को सजाती हैं। इनके अतिरिक्त बहुत सी ऐसी युक्तियाँ हैं जिनका सम्बन्ध उक्ति के अन्तस (अर्थ) से इतना नहीं है जितना वाह्य (शैली) से। उनके द्वारा उत्पन्न चमत्कार उक्ति का ही चमत्कार होता है—उनसे भाव में इतनी तीव्रता नहीं आती। संस्कृत साहित्य के विरोध, विषम, विशेषोक्ति, विभावना आदि और अंगरेजी के ऑक्सीमॉरन का नाम इन्हीं के अन्तर्गत आता है। साकेत में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हैं :—

बच कर हाय पतंग मरे क्या ?

में विरोध बड़ा सटीक बैठा है।

धन्य वह अनुराग निर्गत राग।

में भी चमत्कार का आधार विरोध है। उन्हीं से मिलता-जुलता एक और बड़ा सुन्दर प्रयोग है जिसे हम स्पष्ट रूप से तो विरोध नहीं कह सकते परन्तु उसका सम्बन्ध कुछ इसी से है:—

उटज-अजिर में पूज्य पुजारी उदासीन-सा बैठा है।

पुजारी तो दूसरों की पूजा करता है, परन्तु यहाँ स्वयं उसकी पूजा होने का संकेत है!

करके पहाड़ सा पाप मौन रह जाऊं,
राई भर भी अनुताप न करने पाऊं।

में चमत्कार व्यतिरेक पर आश्रित है!

बैठी है तू षट्-पदी निज सरसिज में लीन,
सप्त-पदी देकर यहाँ बैठी मैं गति-हीन।

इस उक्ति में विशेषोक्ति का चमत्कार श्लेष पर अवलम्बित है—उधर सप्त-पदी देकर भी गति-हीन बैठने में विशेषोक्ति फिर दुहरादी गई है।

हम अपनी बात को प्रभावपूर्ण बनाने के लिए बहुधा अवधारण की सहायता लिया करते हैं। उसके लिए हमें अपने कथन में भावनाओं को एक विशेष क्रम से रखना पड़ता है। कभी उनमें विरोध का आभास होता है, कभी तुलना या संतोलन

का और प्रायः अन्तर का। इस युक्ति के द्वारा कथन में एक बल आजाता है जिसका प्रभाव सुनने वाले पर सीधा पड़ता है। यह मनोविज्ञान के सहारे अपने आप ही हो जाता है। अँग्रेज़ी में इन युक्तियों का नामकरण भी कर दिया गया है—

१—राम तुम मानव हो ईश्वर नहीं हो क्या?
विश्व में रमे हुए नहीं सभी कहीं हो क्या?
तो मैं निरीश्वर हूँ ईश्वर क्षमा करे,
तुम न रमो तो मन तुम में रमा करे।
२—शंकाएँ हैं जहां वहीं धीरों की मति है,
आशंकाएँ जहाँ, वहीं वीरों की गति है।
३—तुम्हारे हँसने में है फूल, हमारे रोने में मोती।

ऊपर के तीनों उदाहरणों में किञ्चित विरोध के आधार पर शब्दों को तोल कर इस प्रकार रक्खा गया है कि वाक्य में एक विशेष शक्ति और चमत्कार आ गया है। पहिले अवतरण में विरोध और संतोलन दोनों का चमत्कार है, दूसरे में केवल संतोलन का और तीसरे में अन्तर का।

इसी प्रकार कहीं-कहीं उक्ति में वक्रता लाने के लिए विरोध का प्रयोग एक विचित्र ढंग से किया जाता है। साधारणतया देखने पर, जो बातें वाक्य में कही गई हैं उनमें विरोधाभास होगा—परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता। इसलिए प्रतिपादित तथ्य का बल और भी बढ़ जाता है। अंगरेजी, संस्कृत, हिन्दी आदि सभी सम्पन्न साहित्यों में इस प्रकार की सूक्तियाँ मणियों

की तरह जड़ी हुई मिलती हैं। प्रेमचन्द्जी की शैली की यह विशेपता थी। साकेत में इस प्रकार की सूक्तियाँ अनेक हैं जिनमें शक्ति और अर्थ-गौरव दोनों पाए जाते हैं—

१—जीवन क्या है एक झूलना-मात्र जनों का
और मरण, वह नया जन्म है पुरातनों का।
२—जहां हाथ में लौह, वहाँ पैरों में सोना !
३—सुख क्या है बढ़कर दुःख सहन करना ही !

अंगरेजी में एक अलंकार है क्लाइमैक्स जिसका समानान्तर हमारे यहाँ 'सार' है ! उसमें शब्दों या भावों को उतार-चढ़ाव के क्रम से रख कर उक्ति में विचित्रता अथवा शक्ति का समावेश किया जाता है:—

१—सैन्य-सर्प जो फण उठाए फुंकारित थे,
सुन मानों शिव-मंत्र, विनत, विस्मित, वारित थे !
२—झँप उठे हैं भीम, झुक, थक हार !

पहिले सर्पों का विनत होना, फिर विस्मत और अन्त में वारित होना भावनाओं के क्रमिक विकास की ओर संकेत करता है। साधारणतया पहले हम विस्मित होते हैं, फिर विनत परन्तु जो मदान्ध और दुष्ट-प्रकृति होते हैं, वे पहिले विनत होंगे तभी उनकी आँखें खुलेंगी और बाद में वे विस्मित होंगे !

अब थोड़ा विचार ध्वनन-शील शब्दों के प्रयोग पर और कर लिया जाए। प्रत्येक कुशल कवि की कृति में भाव के अनुकूल शब्द प्रायः आप से आप आजाते हैं। ये शब्द प्रायः भाव को

चित्रित करते हैं। परन्तु कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनमें भाव का चित्र नहीं ध्वनि रहती है। इनका अर्थ जानने से पूर्व ही प्रायः भाव व्यक्त हो जाता है। इन शब्दों को सुन कर श्रोता के कानों में कही हुई बात गूँज जाती है और इस प्रकार भाव प्रकाशन में प्रभविष्णुता आ जाती है। साकेत में प्रसंग के अनुकूल भाषा का प्रयोग तो हुआ है परन्तु ध्वनन-शील शब्द अधिक नहीं मिलते। मैथिली बाबू को शब्दों की आत्मा और ध्वनि का वह सूक्ष्म परिज्ञान नहीं है जो कवि पंत को है। फिर भी यथा स्थान भाषा में ध्वनि-चित्रण के उदाहरण मिल जायँगे!

१—घनन घनन बज उठी गरज तत्क्षण रण-भेरी!

में ऐसा सुनाई पड़ता है मानों प्रत्यक्ष ही भेरी बज रही हो। इसी प्रकार निम्नोद्धृत पद में निर्झर का नाद है:—

ओ निर्झर झर झर नाद सुना कर झड़ तू,
पथ के रोड़ों से उलझ उलझ बढ़ अड़ तू।
ओ उत्तरीय, उड़ मोद पयोद घुमड़ तू,
हम पर गिरि-गद्‌गद्‌ भाव, सदैव उमड़ तू।

पहिली पंक्ति में पानी का झरना, दूसरी में रोड़ों से अड़ता हुआ बढ़ना, और अंतिम में उसके एक साथ वृहत् परिमाण में गिरने की ध्वनि है!

सखि, निरख नदी की धारा
ढलमल ढलमल चंचल अंचल, झलमल झलमल तारा।

यहाँ नदी का कलकल प्रवाह मुखर हो उठा है!

अभिव्यञ्जना के इस विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि कवि ने भाव-प्रकाशन की अनेक चमत्कार-पूर्ण शैलियों को बड़ी सफलता से अपनाया है। ऊपर दिए हुए सभी उदाहरण उत्कृष्ट काव्य-सामग्री की विभूति हैं, उनसे साकेत के काव्य-वैभव पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। फिर भी घटिया (cheap) उदाहरण बिल्कुल न हों यह बात नही है—

चन्द्रकान्त-मणियाँ हटा, पत्थर मुझे न मार
चन्द्रकान्त आवें यहाँ, जो सब के शृङ्गार!

या—अयोध्या के अजिर को व्योम जानो
उदित उसमें हुए सुर-वैद्य मानो!

आदि भद्दे नमूने हैं।

(उ) भाषा

भाषा में दो गुण द्रष्टव्य हैं-१-शुद्धि और २-शक्ति! शुद्धि के लिए उसके शब्द-कोष और व्याकरण की परीक्षा करनी चाहिये, और शक्ति के लिए उसकी पद-योजना, प्रयोग-कौशल एवं अलंकृति पर विचार करना चाहिए। साकेत का कवि खड़ी बोली के प्रमुख आचार्यों में से है। उसने आचार्य द्विवेदी के पथ-प्रदर्शन में खड़ी बोली का अञ्चल पकड़ा, और आरम्भ में उनके प्रभाव में रह कर और फिर स्वतंत्र रूप से उसका प्रयोग किया। उसके काव्य में हमें एक प्रकार से काव्य-गत खड़ी बोली का इतिहास मिल जाता है। शुद्ध द्विवेदीय भाषा से लेकर आधुनिक भाषा तक लगभग सभी रूप वहाँ मिलेंगे। साकेत की भाषा में

हमें इस काव्य-भाषा का प्रौढ़ स्वरूप दृष्टि-गत होता है ! साकेत के पूर्व की कृतियों में भाषा नितान्त शुद्ध है, परन्तु शक्ति का अपेक्षाकृत अभाव है—उसके बाद की रचनाओं में वह तपस्विनी हो गई है, उसमें भाव और विचारों के भार से भाषा की वाह्य सुख-श्री मन्द पड़ गई है।

संस्कृत का प्रभाव—१--शब्द-कोप—सब से पूर्व साकेत के शब्द कोप पर एक दृष्टि-पात करना समीचीन होगा। खड़ी बोली के अन्य प्रमुख कवियों की भाँति गुप्तजी को भी शब्दों के लिए संस्कृत के अक्षय भाण्डार की शरण लेनी पड़ी है। वास्तव में हमारी भावनाओं और विचारों का संस्कृत साहित्य से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि उनकी सफल व्यञ्जना करने के लिए आप से आप संस्कृत का आश्रय लेना पड़ जाता है। इसके अतिरिक्त एक विकासोन्मुख भाषा के लिए इस प्रकार का शब्द-चयन श्रेयस्कर भी होता है। साकेत में संस्कृत पदावली का प्रचुर-प्रयोग अधिकतर इसी दृष्टि से किया गया है। फिर भी उसकी भाषा प्रिय-प्रवास की भाषा की भाँति संस्कृत-बहुला नहीं है। उसमें संस्कृत के सुन्दर तत्सम शब्दों का प्रयोग प्रायः प्रभाव-वृद्धि के लिए किया गया है—और प्रिय-प्रवास में छन्द के आग्रह-वश। किंतु कुछ ऐसे शब्द भी मिल जाते हैं जिनका प्रयोग किसी प्रकार भी उचित नहीं है और न खड़ी बोली की स्वाभाविक शक्तियाँ ही उनको वहन करने में समर्थ हो सकती हैं। अरुन्तुद त्वेप, कल्य, आज्य, जिष्णु आस्य आदि अप्रचलित शब्दों के

लिए कवि तुक-पूर्ति के अतिरिक्त और कोई कारण उपस्थित नहीं कर सकता। द्वेप के लिए त्वेप, हास्य के लिए आस्य, विष्णु के लिए जिष्णु की खोज करनी पड़ी है। इस प्रकार का शब्द-चयन सर्वथा अक्षम्य है। भाषा की शुद्धता के लिए दूसरी भाषा के शब्दों का प्रयोग एक प्रकार से वर्जित है—परन्तु खड़ी बोली का आदर्श अब वह नहीं रहा जिसमें 'हिन्दवी छोड़ और किसी बोली की पुट न हो।' उसकी साहित्यिक शक्तियों के विकास के लिए संस्कृत की तत्सम पदावली का प्रयोग आज सर्वसम्मत है। हाँ उसकी एक सीमा अवश्य है, और अप्रचलित संस्कृत शब्द जो भाषा की पाचन-शक्ति से परे हों किसी प्रकार उपयुक्त नहीं हो सकते। उनसे भाषा की शुद्धता को क्षति पहुँचती है। इस विचार से भी उपर्युक्त शब्दों का प्रयोग दूषित है!

कुछ शब्दों का कवि ने संस्कृत व्याकरण के अनुसार निर्माण भी कर लिया है—'लाक्ष्मण्य' बड़ा सुन्दर शब्द है। 'सपरागाम्बुजता' में 'अम्बुजता' भी ऐसा ही है। संस्कृत का प्रभाव साकेत की पद-योजना पर भी है। वैसे तो उसमें पदावली प्रायः असमस्त है, समास कम हैं और प्रायः छोटे भी हैं परन्तु कुछ स्थानों पर काफी लम्बे भी हैं। 'जन-धात्री-स्तन-पान-लालसा' 'प्रवृत्ति-निवृत्ति-मार्ग-मर्यादा-मार्मिक' 'चपल-वल्गित-गति-लक्ष्मी' 'मानस-कोष-विभूति-विहारिणी,' आदि। लेकिन इनकी संख्या बहुत थोड़ी है। छोटे समास भाषा की प्रकृति के अनुकूल ही हैं। साकेत में मानस-मग्न, श्लथ-शिखण्ड, विप्र-पंक्ति-विहीन, शफर-

वारि-समान, शबरी-शरार्त जैसे समस्त पद भाषा की गठन को दृढ़ करते हैं। लचर प्रयोगों की भी कमी नहीं है—उपमोचित-स्तनी, विविध-वृत्तान्ते—समास बड़े भद्दे हैं। वे भाषा की प्रकृति के विरुद्ध हैं। कहीं कहीं तद्भव शब्दों को तत्सम से जोड़ कर भाषा का अनर्थ किया गया है जैसे—'दिनरात-संधि' में, कहीं अप्रचलित शब्दों को जोड़ा गया है, जैसे—'दोष-दूर-कारक' 'भूमि-भार-हारक' में। इसके अतिरिक्त संस्कृत के कुछ विचित्र प्रयोग भी साकेत में मिलते हैं, 'अर्धचन्द्र'—इस जन (अयं जनः) आदि।

प्रान्तीयता का प्रभाव— संस्कृत के अतिरिक्त हमारे देश में और भी बहुत सी भाषाएँ हैं, उधर हिन्दी में भी अनेक प्रान्तिक बोलियाँ हैं। उनके शब्दों का ग्रहण अधिकतर आचार्यों की दृष्टि में वर्जित है। परन्तु शब्द की उपयुक्तता के आगे सभी नियम नत शिर रहते हैं। इसीलिए हम देखते हैं कि सभी कवियों ने इस प्रकार की स्वतन्त्रता को अपनाया है और सुन्दर प्रान्तीय शब्दों का यत्र तत्र व्यवहार भी किया है। साकेत में भी भरके, झींमना, छींटना, अफर, घाता, धड़ाम, लंघन आदि प्रान्तीय शब्दों का प्रयोग मिलता है। वैसे तो इतने बड़े काव्य में ये शब्द बहुत कम हैं, और साधारणतया माधुर्य में अथवा प्रभाव-वृद्धि में सहायक भी होते हैं, परन्तु फिर भी उनसे कहीं कहीं भाषा की शुद्धता को बड़ा आघात पहुँचता है—

१—धाड़ मार कर वे बोलीं।
२—कहकर हाय धड़ाम गिरी
३—वत्स हम्बा कर उठे ढिडकार।
४—ठंडी न पड़ बनी रह तत्ती

आदि वाक्यों में शब्दों का चुनाव निस्सन्देह अनुपयुक्त है कुछ क्रिया-रूप भी प्रान्तीय हैं। कीजो, दीजो, मानियो, जानियो, जाय, आदि क्रियाओं में पंडिताऊपन है, जो बड़ा भद्दा लगता है। हाँ, कुछ तद्भव शब्दों के चयन में कवि ने अपनी स्वाभाविक सुरुचि का परिचय दिया है—उनमें माधुर्य और भोलापन है। उदाहरण के लिए साकेत के बिरछे, बिछोह आदि को लिया जा सकता है। ये शब्द अधिकतर कोमल गार्हस्थ्य-प्रसंगों में आए हैं। उर्दू का तो एकाध शब्द ही है, उसे भी नीचे का नुकता उड़ा कर अपना बना लिया है परन्तु है वास्तव में वह तुक का ही आग्रह !

व्याकरण :—व्याकरण की दृष्टि से साकेत की भाषा में कोई व्यतिक्रम नहीं है। कवि को खड़ी बोली की प्रकृति का पूर्ण ज्ञान है, दूसरे द्विवेदीजी के चरणों में दीक्षा लेकर व्याकरण की त्रुटि करना सम्भव नहीं था ! अतः उसकी भाषा सर्वत्र व्याकरण-सम्मत है—उसमें अन्वय-दोष नहीं मिलेगा ! वाक्य पूरे हैं—

पूर्व पुण्य के क्षय होने तक पापी भी तो दुर्जय है,
सरला-अबला आर्या ही के लिए आज मुझको भय है।

कवि की वाक्य रचना पर कुछ अँगरेजी प्रभाव है ! कथन के

वीच में अमुक ने कहा लिखने की प्रणाली अंगरेज़ी की है। साकेत के संवादों में यह शैली सर्वत्र अपनाई गई है। इससे नाटकीय गुण की वृद्धि होती है—

"तुम्हीं पार कर रहे आज जिसको अहो"
सीता ने हँस कहा, "क्यों न देवर कहो!"

ऐसे प्रयोग हिन्दी में कम ही हैं। फिर भी इनका स्वागत होना चाहिए! व्याकरण की दृष्टि से—एक शब्द में—गुप्तजी गद्य और पद्य की भाषा में भेद नहीं करते!

शक्ति

अब तक भाषा की प्रकृति की व्याख्या हुई! अब भाषा की शक्ति का विवेचन और कर लिया जाए! शक्ति से तात्पर्य्य अलंकारिक शक्तियों से ही नहीं है, यहां एक प्रकार से भाषा के गुणों और रहस्यों पर दृष्टि-पात करना है अर्थात् भाषा कैसी है यह देखना है।

खरापन— साकेत में, जैसा कि मैंने प्रारम्भ में निवेदन किया है, खड़ी वोली का प्रौढ़-स्वरूप मिलता है। गुप्तजी की भाषा का एक प्रमुख गुण यह है कि उसमें खड़ी वोली अपनी विशेषता पूर्णतया सुरक्षित रखती है! साकेत की भाषा में यह गुण कवि की अन्य कृतियों की अपेक्षा कुछ कम है, फिर भी उसका खरापन स्थान-स्थान पर लक्षित हो जाता है।

१—निरख सखी ये खंजन आये।
फेरे उन मेरे रञ्जन ने इधर नयन मन भाये।

२—जगती वणिग्वृत्ति है रखती,
उसे चाहती जिससे चखती,
काम नहीं परिणाम निरखती,
मुझे यही खलता है!

३—यही वाटिका थी यही थी मही
यही चन्द्र था चाँदनी थी यही।

× × ×

सखी आप ही आपको वे हँसे।
बड़े वीर थे आज अच्छे फँसे।

भाषा पर आधिपत्य:—साकेत में आकर गुप्तजी भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। कवि का भाषा पर अधिकार इतना व्यापक और विस्तृत हो जाता है कि वह जैसे चाहे उसका प्रयोग सरलता से कर लेता है! साकेत के किसी स्थल को पढ़ कर यह अनुभव हो सकता है कि कवि को कोई भी शब्द ढूँढना नहीं पड़ा है, वह स्वयं उसकी जिह्वा पर आगया है

सत्य है यह अथवा परिहास?
सत्य है तो है सत्यानाश!
हास्य है तो है हत्या पाश!

इसका एक प्रमाण है उनके तुकान्त प्रयोग। पाठक देखेंगे कि कठिन से कठिन तुक भी कवि को सरलता से मिल जाती है और उसके प्रयोग भी प्रायः दुहरे हैं। मेरा तात्पर्य यहाँ कवि की अत्यधिक तुक-प्रियता की प्रशंसा करना नहीं है—यहां केवल

उसका भाषा पर व्यापक अधिकार ही दिखाना अभीष्ट है।

साकेत के संवाद भी कवि के भाषाधिकार के साक्षी हैं। वहाँ कवि ने वाक्चातुर्य्य और उत्तर प्रत्युत्तर का साधन अधिकतर कोई विशेष शब्द अथवा वाक्य ही बनाया है। शब्दों और वाक्यों को पकड़ने में और फिर उनका सव्यंग्य प्रयोग करने में जो कौशल दिखाया गया है वह साधारण कवि की शक्ति से बाहर है! भरत राम के वार्तालाप में 'अभीप्सित' शब्द और कैकेयी राम के संवाद में 'जन कर जननी भी जान न पाई जिसको' वाक्य दोनों का ग्रहण इसी प्रकार किया गया है। लक्ष्मण-उर्मिला लक्ष्मण-सीता, राम-रावण, लक्ष्मण-मेघनाद आदि के वाद-विवाद में भी यही बात है।

'देव होकर तुम सदा मेरे रहो
और देवी ही मुझे रक्खो अहो।
उर्मिला यह कह तनिक चुप हो रही।
तब कहा सौमित्र ने कि यही सही।
तुम रहो मेरी हृदय-देवी सदा,
मैं तुम्हारा हूँ प्रणय-सेवी सदा!

उपर्युक्त अवतरण में देवी और सेवी का प्रयोग दृष्टव्य है। इसी प्रकार :—

हंस कर बोली जनक-सुता सस्नेह यों,
"श्याम गौर तुम एक प्राण दो देह ज्यों।"

रामानुज ने कहा कि "भाभी क्यों नहीं,
सरस्वती-सी प्रकट जहाँ तुम हो रहीं",
'देवर मेरी सरस्वती अब है कहाँ
संगम—शोभा देख निमग्न हुई यहां।"

में 'सरस्वती' शब्द का प्रयोग भाषा की शक्ति का द्योतक है! कवि शब्दों को पहले से सोच कर नहीं रखता, वह तो प्रसंगागत शब्दों को ही यथेच्छ रूप से ढाल कर लेता है।

भाषा की प्रौढ़ता और शक्ति का एक और महत्वपूर्ण अंग है—थोड़े में बहुत कहने की कला! यह समास-पद्धति (Concentration) मुक्तक कवियों में जिन्होंने छोटे छन्दों को अपनाया है सरलता से मिल जाती है। बिहारी का अर्थ-गौरव तो इसी पर निर्भर है! उनके दोहों में जो नए-नए अर्थ निकलते आते हैं, उसका श्रेय इसी पद्धति को है, और इसकी सफलता भाषाधिकार पर आश्रित है। साकेत प्रबंध काव्य है, अतः उसमें इस प्रकार की विशेषता ढूंढ़ना समीचीन न होगा, परन्तु नवम सर्ग में भाषा की प्रौढ़ता इतनी बढ़ गई है कि अर्थ-गौरव के साथ समास-पद्धति का प्रयोग अनेक स्थानों पर मिलता है उस सर्ग में दोहे सभी अर्थपूर्ण कसे और समस्त हैं:—

तारक-चिन्हदुकूलिनी पी-पी कर मधु मात्र,
उलट गई श्यामा यहां, रिक्त सुधाधर-पात्र।

अथवा—प्रभु को निष्कासन मिला, मुझको कारागार,
मृत्यु-दण्ड उन तात को, राज्य तुझे धिक्कार।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कवि का भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व है, वह उसको जिस तरह चाहे प्रयुक्त कर सकता है !

पॉलिश की कमी और तुक का आग्रह : उनका परिणाम— शक्ति उसमें है इसे कौन अस्वीकृत कर सकता है ? परन्तु यह भी स्वीकृत सत्य है कि लचर भाषा के उदाहरण साकेत के बराबर अन्यत्र मिलना कठिन है। इसका कारण है पॉलिश की कमी। गुप्तजी अन्य कलाकार कवियों की भाँति पॉलिश में विश्वास नहीं करते। उनके वाक्यों में पंतजी की सी काट-छाँट और शब्द-चयन नहीं है, न महादेवी की सी स्वाभाविक मधु-मिश्री। कवि के मन में जो पद एक बार आ गया है उसे उसने ज्यों-का-त्यों रख दिया है—उस पर विचार कदाचित् ही किया हो—

> सूर्य का यद्यपि नहीं आना हुआ,
> किंतु समझो रात का जाना हुआ।
> क्योंकि उसके रंग पीले पड़ चले,
> रम्य रत्नाभरण ढीले पड़ चले।

उक्त उद्धरण में 'यद्यपि', 'किन्तु', 'समझो', 'क्योंकि' आदि शब्द कविता की दृष्टि से निरर्थक हैं—उनसे भाषा की कसावट को क्षति पहुँचती है—

१—सीता से थामीं जाकर।

२—प्रलय-घटिका प्रकटता पा रही थी।

३—बोले वे कि रहो भ्रातः,

और सुनो तुम हे मातः ।
४—होकर उच्च हृदय इतना,
नहीं हिमालय भी जितना ।

ऊपर के पदों में रेखाङ्कित प्रयोग काव्य के सर्वथा अनुपयुक्त हैं । 'थामा जाना', 'प्रकटता पाना' आदि प्रयोग भाषा की असमर्थता के सूचक हैं—तीसरा और चौथा उद्धरण भर्ती का है ।—इसका कारण भी ढूँढ़ने पर सरलता से मिल जायगा । वह है तुक का आग्रह । कवि को तुक से न जाने क्यों इतना प्रेम है कि वह उसके लिए शब्द और अर्थ दोनों का बलिदान भी कर देता है । एक ओर तुक यदि उसकी भाषा की शक्ति है तो दूसरी ओर उसके लचरपन, भर्ती, अप्रचलित-दोष आदि का भी मूल कारण है । उसके वशीभूत होकर कवि स्थान-स्थान पर अपने ऊँचे स्टेन्डर्ड से गिर गया है। साकेत जैसे काव्य में उपमोचित—स्तनी, तत्ती, रत्ती, लक्खी, मल्ली, लल्ली आदि का प्रयोग तुक की ही कृपा का फल है । वास्तव में एक महाकवि को इस प्रकार का बचपन करते देख पाठक को बड़ा क्षोभ होता है। सौभाग्य-वश बाद में यह व्यसन छूट गया है, इसीलिए यशोधरा, द्वापर और सब से अधिक सिद्धराज में भाषा का लचरपन भी बहुत कम हो गया है ।

इन दोनों प्रवृत्तियों का मिश्रित परिणाम यह होता है कि गुप्तजी की भाषा में खड़ी बोली की खड़खड़ाहट काफ़ी मिलती है—कहीं-कहीं तो वाक्य सुपाठ्य भी नहीं है !

१—सुश्रू-सुश्रूषिणी अन्त में पति दर्शन कर आती थी !

२—तुझ पर ऊंचे ऊंचे झाड़,
तने पत्रमय छत्र पहाड़,
क्या अपूर्व है तेरी आड़ ।

उधर पॉलिश का विचार न रखने के कारण ही साकेत में कुछ बड़े भद्दे मुहावरे की मिलेंगे । साकेत में, मुहावरों और कहावतों की प्रायः कमी है । जो एकाध हैं, वे न मधुर और न अर्थ-गर्भित !

१—कि आए खेत पर ही देवे ओले ।
२—वहां परिणाम में पत्थर पड़े क्यों ?
३—खाने पर सखि जिसके गुड़-गोबड़ सा लगे स्वयं ही जी से ।

माधुर्य्यः—परन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि साकेत की भाषा में सौन्दर्य एवं माधुर्य्य का अभाव है । कवि ने यद्यपि प्रयत्न नहीं किया किन्तु भाषा उसकी अनुवर्तिनी है, अतः अनेक स्थानों पर उसकी माधुरी अद्भुत है :—

पाकर विशाल कच-भार एड़ियां धँसती,
तब नख-ज्योति-मिस मृदुल अंगुलियाँ हँसती ।
क्षोणी पर जो निज छाप छोड़ते चलते,
पद-पद्मों में मंजीर-मराल मचलते !
रुकने झुकने में ललित लंक लच जाती
पर अपनी छवि में छिपी आप बच जाती !

साथ ही भाषा की स्वच्छता भी साकेत में यत्रतत्र दर्शनीय है :—

कलिकावलि फूटने लगी,
अलि आली उड़ टूटने लगी,
नभ की मसि छूटने लगी,
हरियाली हिम लूटने लगी !
विहगावलि बोलने लगी,
यह प्राची पट खोलने लगी,
अटवी हिल डोलने लगी,
सरसी सौरभ घोलने लगी !

ऊपर के अवतरण में शब्दावली स्फीत है। उसमें संकुलता का अभाव होने के कारण स्वच्छता है। शब्द एक दूसरे से पृथक असंयुक्त हैं, परन्तु उनका क्रम बड़ा सुन्दर है। वे मानों एकदूसरे से पग मिला कर बढ़ रहे हों।

पात्र एवं प्रसंग की अनुकूलता:— इसके अतिरिक्त साकेत की भाषा सर्वत्र प्रसंगानुकूल है, उसका स्वरूप भाव और पात्र के अनुरूप ही है। पात्र तो प्राय: एक ही श्रेणी के होने के कारण उनकी भाषा में कोई बड़ा अन्तर नहीं है—मंथरा की भाषा में भी कोई जातिगत भेद नहीं है ! फिर भी स्वभाव-गत वैषम्य सर्वत्र मिलेगा। लक्ष्मण की वाणी में कुछ गर्मी और औद्धत्य है, उर्मिला की भाषा में शील का मार्दव एवं चञ्चलता मिलेगी। राम के वाक्य, गंभीर और दृढ़ होंगे, सीता के एकान्त-सरल, भोले कैकेयी के शब्दों में उच्छ्वास सर्वत्र मिलेगा। उधर प्रसंग

के अनुसार भी भाषा का रूप बदलता रहता है। चतुर्थ सर्ग की भाषा में जो भोली चञ्चलता मिलती है वह मधुर गृहस्थ-चित्रों के अनुकूल है, नवम सर्ग की पदावली में (स्मृति प्रसंगों को छोड़) प्रायः श्रांति, स्थिरता और कराह है, और अन्तिम दोनों सर्गों में भाषा का प्रवाह प्रसंग के अनुकूल ही सवेग और दुर्धर हो गया है। वहाँ उसमें अद्भुत ओज और गति है ! निम्नांकित तीन अवतरणों की तुलना से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा !

१— "मां क्या लाऊं ?" कह कह कर
पूछ रही थीं रह रह कर !—(चतुर्थ सर्ग)
२— निहार सखि सारिका कुछ कहे बिना शान्त-सी,
दिये श्रवण है यही इधर में हुई भ्रान्त-सी !
इसे पिशुन जान तू, सुन सुभाषिणी है बनी
'धरो'! खगि, किसे धरूँ? धृति लिए गए हैं धनी !(नवम सर्ग)
३—दल बादल भिड़ गए धरा धँस चली धमक से,
भड़क उठा क्षय कड़क तड़क से चमक दमक से ! (द्वादशसर्ग)

पहले में लघु अक्षरों की सरल-चटुल गति है जो चाञ्चल्य और भोलेपन की द्योतक है, दूसरे में वाक्यों में विराम है जिनसे भावना की थकान की सूचना मिलती है, तीसरा शब्दों की लपक-झपक से स्पंदित है !

लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता:—साहित्य के अन्य तत्वों की भाँति हमारी भाषा पर भी अंगरेज़ी का प्रभाव पड़ा है—अंगरेज़ी भाषा की लाक्षणिकता और मूर्तिमत्ता अत्यन्त विकसित है;

अंगरेज़ी-काव्य के अनेक सफल प्रयोग भाषा की इन्हीं शक्तियों के आश्रित हैं। हिन्दी की भी लाक्षणिक शक्ति का विकास-विवर्धन गत वर्षों में काफ़ी हुआ है। उसमें नवीन मूर्तिमत्ता आ गई है जिस से प्रयोगों में नवीन वक्रता और नवीन चमत्कार का समावेश होने लगा है! गुप्तजी की प्रारम्भिक कृतियों में तो अधिकतर भाषा की प्राचीन रीति-नीति का ही अनुसरण है, परन्तु साकेत में आकर ये शक्तियाँ समर्थ हो गई हैं। इसका विवेचन अभिव्यञ्जना कौशल की व्याख्या के साथ हो ही चुका है। उससे स्पष्ट है कि साकेत की भाषा में लाक्षिणक-समृद्धि और मूर्तिमत्ता प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। नवम सर्ग ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है।

अन्त में भाषा को समग्र रूप में ग्रहण करते हुए हम देखते हैं कि साकेत की भाषा में खड़ी बोली का अत्यन्त शिष्ट और प्रौढ़-स्वरूप मिलता है। गुप्तजी ही ने द्विवेदीय भाषा को सबसे पूर्व काव्योचित रूप प्रदान किया—साकेत में आकर उसमें शक्ति और अलंकृति भी आ गई। शब्दालंकार स्वतः ही भाषा की वसनसज्जा में रत हैं-अनुप्रास की रुनझुन, श्लेष का चमत्कार और पुनरुक्ति का वैभव उसमें कहीं भी मिल जाएगा। परन्तु अलंकृत और सांस्कृतिक होने पर भी उसमें खड़ी बोली का अपनापन नष्ट नहीं होने पाया। प्रिय-प्रवास की भाषा गद्य-भाषा से एक दम दूर हो गई है, पल्लव, ज्योत्स्ना अथवा युगांत की भाषा साधारण लोक-भाषा से सर्वथा विमुख है। साकेत की

भाषा पर ये दोनों जुर्म नहीं लगाए जा सकते—यद्यपि न उसमें प्रियप्रवास की हिल्लोलाकार गति है और न पल्लव या युगांत की पॉलिश !

छन्द-योजना

साकेत सर्ग-बद्ध प्रबन्ध काव्य है ! साहित्य-शास्त्र के नियमानुसार उसके प्रत्येक सर्ग में नवीन छन्द का प्रयोग किया गया है।

छन्द कविता का नैसर्गिक परिधान है—वह साकेत की सीता के दिव्य दुकूल की भांति कविता की देह के साथ ही उत्पन्न हुआ है ! संस्कृत के महाकाव्यों में इस छन्द वैचित्र्य का प्रायः सर्वत्र ही उपयोग किया गया है, परन्तु कालिदास सदृश कुशल कलाकारों को छोड़ अन्य कवियों ने केवल वैचित्र्य का ही ध्यान रक्खा है। उनके छन्दों में प्रसंग (भाव और पात्र) की अनुकूलता कदाचित ही मिले ! साकेत की छन्द-योजना में यह गुण स्पष्ट लक्षित होता है ! उसमें कवि ने लगभग सभी सुन्दर छन्दों का प्रयोग किया है परन्तु उसका प्रयोजन केवल नवीनता अथवा विचित्रता मात्र से ही सिद्ध नहीं हो जाता है ! उनका चयन प्रसंग के अनुरूप ही किया गया है। पहिले सर्ग का विषय है लक्ष्मण-उर्मिला का प्रणय-परिहास। अतः उसके लिए कवि ने शृंगार का ख़ास छन्द 'पीयूष-वर्षण' चुना है। कवि पन्त ने ग्रन्थि में इसी को अतुकान्त रूप में प्रयुक्त किया है—साकेत में वह तुकान्त है और उसके अन्त में गुरु वर्ण अनिवार्य रूप से रक्खा गया है। यहां शब्द चञ्चलता से आगे बढ़ कर

अन्त में गुरु पर जाकर एक झोल खा जाते हैं जिससे सारी पंक्ति तरंगित हो जाती है! इस छन्द में परिहासोचित चञ्चलता है और उधर गीत का आभास भी है क्यों कि पहले सर्ग में कवि कथा को अग्रसर करने के लिए प्रयत्नशील है। सर्ग में कैकेयी और मंथरा की बातों से कैकेयी के ख़ून की गति तेज़ हो जाती है उसके मन में अनेक भाव क्षण भर में दौड़ जाते हैं। ऐसी मनोदशा का चित्रण करने के लिए १६ मात्राओं का छोटा शृंगार छन्द सर्वथा समर्थ है। इस छन्द की यह विशेषता है कि जल्दी पढ़ने से इसकी दूसरी पंक्ति लौट कर पहिली से मिल जाती है—इसलिए भावनाओं का तारतम्य उसके द्वारा अच्छी तरह प्रकट हो सकता है :—

सामने से हट अधिक न बोल
द्विजिह्वे रस में विष मत घोल।

यहाँ घोल पीछे घूम कर बोल से मिल जाता है!—तीसरे सर्ग में दशरथ का विलाप है। उर्दू की यह बहर (हिन्दी का सुमेरु छन्द) कराहने के काम में बहुत आई है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने दशरथ-विलाप इसी में लिखा था! चौथे सर्ग का मानव (हाकलि) छन्द उसकी भाषा की भांति भोले गार्हस्थ्य चित्रों के अंकन के लिए सर्वथा उपयुक्त है ही। कौशल्या और सीता दोनों साकेत के सब से सरल चरित्र हैं और इस सर्ग में उन्हीं की प्रधानता है, इसलिए कवि ने चौदह मात्राओं का यह चपल छन्द चुना है!

कभी आरती धूप कभी
सजती थी सामान सभी ।

पंचम सर्ग में आकर कथा की गति विलास-मंथर हो गई है, अतः छन्द भी उसी के अनुकूल है ! इस छन्द में प्रत्येक दूसरी पंक्ति पर विराम मिलेगा !

गोरे देवर, श्याम उन्हीं के ज्येष्ठ हैं !
वैदेही यह सरल भाव से कह गईं
फिर भी वे कुछ सरल हँसी हँस रह गईं ।

उक्त उद्धरण में पंक्तियाँ प्रायः अपने में पूर्ण हैं, वे न आगे को बढ़ती हैं और न पीछे हटती हैं ! छठे सर्ग में दशरथ की मृत्यु का वर्णन है—कथा की गति उच्छ्वसित हो गई है अतः फिर कवि ने १६ मात्राओं का 'पदपादाकुलक' छन्द प्रयुक्त किया है ! सातवें में भरत का शोक और ग्लानि है—कथा स्थिर है, भरत के स्वभाव के अनुसार ही उसमें लपक झपक नहीं है—इसीलिए ऐसे छन्द का प्रयोग है, जो प्रायः दूसरी पंक्ति पर रुक जाता है ! यह छन्द कवि का अपना छन्द है ।

आठवें सर्ग में फिर कैकेयी रंगमञ्च पर आ जाती है, बस छन्द भी सवेग है, उसके शब्द और पंक्तियां एक दूसरे को धकेलते हुए आगे बढ़ते हैं ! इस सर्ग में प्रारम्भ में सीता का चित्र है, बाद में कैकेयी का; दोनों चित्रों में एक ही छन्द प्रयुक्त है, परन्तु सूक्ष्म रीति से देखने पर उन दोनों की गति में अन्तर मिल जायगा । सीता का चित्र सरल और सुखी है उसमें कुछ

चंचलता भी है—अतः छन्द में भी लघु अक्षर अपेक्षा कृत अधिक होने से लाघव आ गया है। कैकेयी का चित्र आग उगल रहा है—उसके लिए छन्द में विस्तार है—शब्दों में दृढ़ता है! नवम सर्ग में विरह का नग्न भाव-चित्र है! भावना सर्वथा अस्त-व्यस्त है, इसलिए विभिन्न छन्दों का प्रयोग हुआ है। छन्द भी सभी गति-हीन हैं। दूसरे भाव की शून्यता के कारण आर्या को भी प्रधानता उचित ही दी गई है! दशम सर्ग में भी विरह गीत हैं, परन्तु पूर्व स्मृतियों के कारण उसमें कुछ रंग आगया है—कवि ने इस सर्ग में भवभूति को छोड़ कालिदास की स्तुति इसीलिए की है। छन्द भी कालिदास का प्रिय छन्द वियोगिनी है—अज-विलाप ने इसे विप्रलम्भ के लिए अमर कर दिया है। एकादश के नायक (प्रधान पात्र) हैं हनूमान। उनका कार्य है युद्ध का ऐश्वर्य-पूर्ण-वर्णन। इसलिए यहाँ वीर छन्द, (जगनिक की कृपा से अतिशयोक्ति जिसका स्वाभाविक अंग बन गई है) से अधिक और कौन सा छन्द फिट होता। अन्तिम सर्ग में युद्ध का वर्णन है, उधर राम को लौटने की जल्दी है, अतएव वहाँ रोला का प्रवाह बहा है। इस प्रकार एक साधारण दृष्टिपात करने पर ही हम कवि के इस कौशल को पहिचान सकते हैं।

महाकाव्य की रूढ़ि के अनुसार प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द बदल गया है। अन्त में प्रायः दो अथवा दो से अधिक भिन्न छन्द हैं-ये सभी छन्द सर्ग को समाप्त करने के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं-इनसे एक से उपाख्यान का अन्त होता है—दूसरे से आगे की

ओर संकेत। उदाहरण के लिए पहले सर्ग में—

चूमता था भूमितल को अर्ध-विधु-सा भाल,
बिछ रहे थे प्रेम के दृग-जाल बन कर बाल।
छत्र-सा सिर पर उठा था प्राणपति का हाथ,
हो रही थी प्रकृति अपने आप पूर्ण सनाथ।

पर ड्रॉप-सीन होता है—दूसरे छन्द में आगे का संकेत है—

इसके आगे विदा विशेष,
हुए दम्पती फिर अनिमेष।
किन्तु जहां है मनोनियोग,
वहां कहां का विरह वियोग?

दूसरी बात जो साकेत की छन्द-योजना के विषय में ज्ञातव्य है, वह है अनेक छन्दों का सफल प्रयोग। साकेत में कवि ने हिन्दी में साधारणतः प्रचलित लगभग सभी छन्दों को अपनाया है—उपर्युक्त छन्दों के अतिरिक्त आर्या, गीति, आर्यागीति, शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरिणी, मालिनी, द्रुतविलम्बित, वियोगिनी आदि सुन्दर संस्कृत वृत्त और दोहा, सोरठा, घनाक्षरी, सवैया जैसे प्राचीन हिन्दी छन्द भी नवम सर्ग अथवा अन्य सर्गों के अन्त में प्रयुक्त हुए हैं। विरह-कोमल भावनाओं के लिए गीतों का प्रयोग है। इतने प्रकार के छन्दों का प्रयोग करना तो कठिन नहीं है परन्तु सर्वत्र प्रसंग का ध्यान रखना और प्रत्येक छन्द को पूर्ण सफलता से प्रयुक्त करना कौशल का परिचायक है! सभी छन्द लययुक्त हैं—उनमें

गतिभंग अथवा अथवा यतिभंग का कहीं नाम नहीं है। सब में सुख-सरल प्रवाह है—उनमें राग की अन्तर्धारा सर्वत्र व्याप्त है? पाँचवे सर्ग का त्रैलोक छन्द सातवें का कवि का अपना छन्द आठवें का राधिका दसवे का वियोगिनी और अन्तिम रोला तो बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं। संस्कृत वृत्तों का प्रयोग खड़ी-बोली की प्रकृति के विरुद्ध है, अतः कवि ने उनका यत्र-तत्र ही प्रयोग किया है। वहाँ भी उसने खड़ी बोली की विशेषता को संस्कृत की पॉलिश से दबा नहीं दिया। आर्या के भिन्न-भिन्न उपभेदों का इतना सरल प्रयोग सबसे पूर्व साकेत में ही मिला है। हिन्दी के छन्दों में दोहा सवैया अत्यन्त ही परिष्कृत हैं। तुक का चमत्कार तो सभी कहीं मिलेगा ही—भाषा का अनर्थ करने पर भी तुक छन्द के संगीत में सर्वदा सहायक हुई है। तुक प्रायः दुहरी है।—इसलिए छन्द अतिशय रागयुक्त हो गया है। गीतों में अवश्य कविको सफलता नहीं मिली—कारण यह है कि कवि भाषा में गीतों के अनुरूप मादव नहीं ला सका है, साथ ही उसमें वह कोमल वन्य स्पर्श भी नहीं है जो गीतों का एक प्रमुख तत्व है।

विभिन्न छन्दों के सफल प्रयोक्ता होने पर भी गुप्त जी टेकनी.शयन नहीं हैं। उन्होंने छन्दों की एक-स्वरता (Monotony) तोड़ने के लिए दूसरे छन्द का ही प्रयोग किया है—छन्द में परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने निराला और पन्त की भाँति छन्द की टेकनीक पर प्रयोग नहीं किये और उनके न कान ही उतने

शिक्षित प्रतीत होते हैं! नवम सर्ग में आर्या में अवश्य कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन कहीं-कहीं भावना के विस्तार के अनुकूल कर लिया है। परन्तु वह भी नियमानुकूल ही है। उनके छन्दों में अनुक्रम (Symmetry) सर्वत्र मिलेगा—हाँ कहीं कहीं यति की विभिन्नता द्वारा वैचित्र्य का समावेश होता रहा है!

हिन्दी-काव्य में साकेत का स्थान

साकेत के सृजन के मूल में दो प्रेरणाएं थीं—१—रामभक्ति, २—भारतीय जीवन को समग्र रूप में देखने और समझने की लालसा। उसकी सफलता का मूल्यांकन भी इन्हीं दो रेखाओं द्वारा होना चाहिए। रामभक्ति स्वभावतः हमें राम-काव्य की ओर संकेत करती है और जीवन-दर्शन की लालसा जीवन-काव्य (प्रवन्ध-काव्य) की ओर! अतः इनकी सापेक्षता में ही साकेत को देखना होगा।

राम-काव्य भी जीवन-काव्य ही है। भगवान राम का मर्यादा-पुरुपोत्तम रूप स्वतः ही जीवन की अपेक्षा करता है! जीवन की समस्त विशृंखलताओं का समाधान करते हुए उसके पूर्णरूप को प्राप्त कर लेना ही उनका गौरव था। आदि कवि के उनका यही स्वरूप ग्रहण किया था। उनके राम संसार के वीच में रह कर

उसमें प्रविष्ट होकर जीवन के सत्य को प्राप्त करते हैं। वे नर हैं और नरत्व में ही नारायणत्व का समावेश कर लेते हैं--परन्तु वे अवतार नहीं हैं और न उनके नरत्व का लोप ही होता है। बालकाण्ड के प्रथम सर्ग में वाल्मीकि ने अपने काव्य के उपयुक्त नायक के अनुसन्धान में सारे गुणों का उल्लेख करके नारद से पूछा—'समग्रारूपिणी लक्ष्मी कमेकं संश्रिता नरं'। मूर्त्तिमती समग्र लक्ष्मी ने किस एकमात्र मनुष्य का आश्रय लिया ? तब नारद ने कहा 'देवेष्वपि न पश्यामि कश्चिदेभिर्गुणैर्युतम्, श्रूयतां तु गुणैरेभिर्यो युक्तो नरचन्द्रमा।' रामायण में उसी नरचन्द्र का का वर्णन है देवता का नहीं। रामायण में देवता अपने को हीन बना कर मनुष्य नहीं हुआ है बल्कि मनुष्य ही अपने गुणों से उच्च होकर देवता हो गया है।' वाल्मीकि के उपरान्त भी कुछ समय तक राम ऐतिहासिक पुरुष रहे; लोक की वीर पूजा की भावना उनकी ओर श्रद्धा और गर्व से बढ़ती रही! परन्तु जब बौद्धों ने ईश्वर के अभाव में स्वयं बुद्ध को ही ईश्वरीय गुणों से युक्त करना प्रारम्भ कर दिया तो भारतवर्ष में अवतारवाद का जन्म हुआ जिसके फलस्वरूप राम को विष्णु का अवतार मान लिया गया और उनमें भी ईश्वरत्व का आरोप हो गया। विष्णु-पुराण में आकर राम के स्वरूप की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा होगई। फिर तो यह क्रम चलता ही रहा और विष्णु-पुराण के परवर्ती ग्रन्थों में विशेषकर अध्यात्म-रामायण में राम की अलौकिक महत्ता का प्रतिष्ठान हो गया। अब उनका ब्रह्मत्व साध्य से

सिद्ध हो गया। चौदहवीं शताब्दी में रामानन्द ने राम के इस स्वरूप को कितावों से निकाल कर जनता के वीच उपस्थित किया, और तभी रामभक्ति सम्प्रदाय का जन्म हुआ। तत्व दृष्टि से रामानुजाचार्य के विशिष्टा-द्वैतावाद के अनुगामी होने पर भी अपनी उपासना इन्होंने अलग की। इन्होंने उपासना के लिए वैकुण्ठ-निवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला विस्तार करने वाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। राम के स्वरूप में यद्यपि इस समय काफ़ी परिवर्त्तन विवर्धन हो गया था, परन्तु उसका मूल रूप—ढांचा अब भी वही था जो आदि कवि ने अंकित किया था। राम का गम्भीर, मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप अब भी ज्यों का त्यों रहा। राम का जीवन-चरित्र व्यापक था उसमें लोक-धर्म की प्रमुखता थी, इसीलिए राम-काव्य में भी इन्हीं विशेषताओं को ग्रहण किया गया। यही हिन्दी के राम काव्य की पृष्ठभूमि है। इसी पर तुलसी के राम की स्थापना हुई और राम-भक्ति को एक निश्चित और व्यापक स्वरूप मिल गया!

तुलसीदास का काव्य ही एक प्रकार से हिन्दी में राम काव्य का इतिहास है। उनसे पूर्व भी मुनिलाल आदि एकाध कवि की रचना मिल जाती है, और उनके पश्चात तो कवियों की संख्या भी थोड़ी नहीं है। उसमें केशव जैसे कवि का भी नाम है, परन्तु वास्तव में रामकाव्य का अर्थ तुलसी-काव्य ही है! अतः साकेत का रामकाव्य में स्थान निर्धारित करने के लिए उसको पहले तुलसी-काव्य (मानस) के

साथ देखना चाहिए। तुलसी ने राम के विराट स्वरूप को दर्शन द्वारा ग्रहण कर जीवन के व्यापक क्षेत्र में अवतरित किया है। उन्होंने राम में अनन्त शील, अनन्त सौन्दर्य, अनन्त शक्ति का समावेश कर उनका ईश्वर (सम्पूर्ण ऐश्वर्य्यवान) रूप पूर्ण कर दिया, और उधर राम के जीवन में आर्य-जीवन को समाहित करते हुए राम का भारतीय जीवन से अक्षुण्ण सम्बन्ध स्थापित कर दिया है। उनके राम में विशिष्टाद्वैतभाव के ब्रह्म के पाँचों रूप मिलते हैं। तुलसी भक्त साधक थे अतः उनका मानस धार्मिक-भक्ति-काव्य है। उसमें धर्म में जीवन को प्राप्त करने का सफल प्रयत्न है। साकेत जीवन-काव्य है, उसमें जीवन में धर्म को ढूंढ निकालने की चेष्टा है। साकेतकार के धार्मिक सिद्धान्तों के निर्माण में इस युग की बौद्धिकता का पूर्ण समावेश है। उनकी आस्था ने बुद्धि को स्वस्थ रखा है और बुद्धि ने उनकी आस्था को शुद्ध। तुलसी का जीवन साधना के लिए था, मैथिलीशरण का जीवन स्वयं साधना है। उसमें जीवन को जीने की पूरी आकांक्षा है, इसीलिए मानस की अपेक्षा साकेत में जीवन (संसार) का अंश अधिक है। विशिष्टाद्वैत में पूर्ण आस्था होते हुए भी उनके राम में सांसारिकता काफ़ी है। साकेत में उनके पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और आर्चावतार स्वरूपों में विभव का ही प्राधान्य है। साकेत में राम का जन्म 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' ही हुआ है—इसीलिए उन्होंने नरलीला की है। उनके विभव में भी परित्राण से

अधिक सेवा की भावना है, और विनाश से निषेध अधिक है ! यह इस युग की भावना है। हमारी सब से बड़ी समस्या जीवन है और उससे परे अध्यात्म या धर्म, इस युग में कोई अर्थ नहीं रखता। साकेत की धार्मिक पृष्ठभूमि का ठीक यही स्वरूप है। उसमें भुक्ति और मुक्ति का सामञ्जस्य है, भावुकता और बुद्धि (इड़ा) का। भक्ति आकर साकेत में भावुकता बन गई है। यह समय का तक़ाज़ा है।

सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्रों में—भौतिक क्षेत्र में—भी वह यही शक्ति-साधन लेकर गया है। उसने देखा कि जीवन को जीने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। हमारा जीवन बन्दी है—

> भारत-लक्ष्मी पड़ी राक्षसों के बंधन में,
> सिन्धु-पार वह बिलख रही है व्याकुल मन में।

अतः—

> मानते थे सब जिसे निज शक्ति,
> बन गई वह राज-भक्ति विरक्ति।

राजा ने राज्य को भोग बना लिया, तब तो जो अराजकता कभी पाप थी, आज पुण्य बन गई। जब रक्षक भक्षक बन गए, तो—

> विगत हों नरपति रहें नर मात्र !

देश क्रान्ति की लहर में बहा जा रहा है। कवि कहता है क्रान्ति ठीक है, परन्तु उसमें निर्माण की शक्ति होनी चाहिए उन्मूलन की ही नहीं। इसीलिए साकेत में हमें साम्यवाद और राजतन्त्र के

बीच सामञ्जस्य मिलता है। राम-राज्य की स्थापना ही, जिसमें—

निज रक्षा का अधिकार रहे जन जन को,
सबकी सुविधा का भार किन्तु शासन को-

और जिसका आधार लोक-सेवा-प्रीति पर स्थित हो, हमारी राजनीतिक विशृङ्खलताओं का समाधान है। समाज-नीति में कवि ने पूर्व और पश्चिम के बीच समन्वय किया है। समाज में दो विरोधी धाराएँ हैं—एक रूढ़ि-प्रिय प्राच्य आदर्शों के उपासकों की, दूसरी क्रान्तिकारी पाश्चात्य आदर्शों के प्रेमियों की। एक में जीवन से बच कर चलने का असफल प्रयत्न है, दूसरे में जीवन में घुसकर उसी का हो रहने की झूठी वासना। कवि ने प्राच्य आदर्शों के ऊपर जमी हुई मलिनता को स्वच्छ कर उनका नवीन संस्कार किया और जीवन की मधुरता को धर्म (नीति) से सम्बद्ध कर, समाज में एक मर्यादा स्थापित करने की चेष्टा की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिस समन्वय-प्रवृत्ति को तुलसी ने 'मानस' के धार्मिक क्षेत्र में अपनाया था, आज उसी को गुप्तजो ने साकेत के भौतिक जीवनक्षेत्र में प्रयुक्त किया है। दोनों में अपने कर्त्तव्य की चेतना है और यही चेतना दोनों काव्यों की शक्ति और दुर्बलता है। गुप्तजी की बौद्धिक चेतना तुलसी से दृढ़ है इसीलिए उनमें उतनी भक्ति की आर्द्रता नहीं आ सकी, परन्तु इससे उनकी सहिष्णुता अवश्य बढ़ गई है। तुलसी राम के विरोधियों के प्रति एकदम असहिष्णु हैं, परन्तु

गुप्तजी को उनसे कोई वैर नहीं। साकेत की कैकेयी, मेघनाद और रावण तीनों इसके साक्षी हैं। मानव को मानव रूप में समझना इस युग की विशेषता है। उसको साकेत में जिस आग्रह के साथ ग्रहण किया गया है, उस आग्रह के साथ मानस में नहीं। परन्तु मैथिलीशरण ने मानस का प्रतिद्वन्द्वी ग्रन्थ लिखने का प्रयत्न कभी नहीं किया। उन्होंने तो तुलसी की वन्दना करते हुए स्पष्ट कहा है:—

तुलसी यह दास कृतार्थ तभी,
मुँह में हो चाहे स्वर्ण न भी,
पर एक तुम्हारा पत्र रहे,
जो निज मानस-कवि-कथा कहे।

फिर भला प्रतिद्वन्द्व कैसा ?

रामकाव्य के अन्तर्गत रामचन्द्रिका की गणना होती है परन्तु न वह रामकाव्य है और न जीवन-काव्य। उसमें तो आचार्य केशव ने रामायण का आधार लेकर साहित्य-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। इस युग में आकर रामचरित-चिंतामणि, रामचन्द्रोदय, एवं कौशल-किशोर तीन महाकाव्यों की सृष्टि हुई। तीनों में महाकाव्य के लक्षण वर्त्तमान होने पर भी काव्य की परिक्षीणता है। पहले में नैतिक दृष्टिकोण से रामचरित का वर्णन है। परन्तु मानव मनोविज्ञान का आधार न होने से इस ग्रंथ का विशेष साहित्यिक मूल्य नहीं रह गया। जोतिषीजी का काव्य रामचन्द्रिका का आधुनिक स्वरूप है। कौशल-किशोर में कवि ने भले ही 'रामायण का आधुनिक दृष्टिकोण से अध्य-

अक्षय विभूति है जिसके सम्मुख प्रियवास कहीं कहीं नीति-ग्रन्थ सा प्रतीत होने लगता है और कामायनी मनोविज्ञान की ट्रीटाइज। इन दोनों की अपेक्षा साकेत हमारे अधिक निकट है इसमें हमारे सुख-दुःख की कहानी अधिक स्पष्ट है। साकेत वस्तुरूप से जीवन-काव्य है। इसमें भारतीय जीवन को जीने के व्यापार के रूप में देखा है। भारतीय जीवन आज का या पहले का ? यह प्रश्न किया जा सकता है। परन्तु इस प्रश्न से जीवन की एकता टूट जाती है। भारतीय जीवन आज और पहिले के अंतर्विभागों में बँट कर अखण्ड नहीं रहता। हमारा आज पूर्व का ही प्रतिफलन है और आज और पूर्व दोनों में आत्मा की तरह बैठा हुआ जो भारतीय जीवन है उसी की व्याख्या साकेत में है। इसमें प्राचीन का विश्वास और नवीन का विद्रोह दोनों समन्वित हो कर एक होगये हैं। इसलिए साकेत में वर्तमान की सभी समस्याएँ हैं। परन्तु उनका समाधान भी मौजूद है—"व्यथा रहे पर साथ साथ ही समाधान भरपूर।" इसी दृष्टि से वह भारतीय जीवन का प्रतिनिधि ग्रंथ है।

सुमित्रानन्दन पन्त

जिस प्रकार श्री नगेन्द्रजी ने अपनी प्रस्तुत पुस्तक 'साकेत : एक अध्ययन' में कवि श्री मैथिलीशरण की प्रसिद्ध कृति साकेत पर अपने समीक्षात्मक विचारों का प्रकाश डाला है, उसी प्रकार आपने पन्तजी की सभी रचनाओं की सुन्दर विवेचना की है।

हिन्दी-साहित्य के सभी लब्ध प्रतिष्ठित मनीषियों ने इस आलोचनात्मक ग्रन्थ की महत्ता को मुक्तकंठ से स्वीकार किया है। और स्वयं पंतजी ने इसकी भूमिका में दो शब्द कहे हैं। हिन्दी के श्रेष्ठ समालोचक श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी प्रान्त की प्रमुख और माननीय पत्रिका 'हिन्दुस्तानी' में इसकी आलोचना में लिखते हैं—

"इसके लेखक पन्तजी पर लिखने के सुयोग्य अधिकारी हैं, उन्होंने बड़ी ही सहृदय दृष्टि से कवि पन्त को जाना-समझा है और एक कलाकार पर कलात्मक दृष्टिकोण से ही स्वच्छ प्रकाश डाला है। हिन्दी समालोचना की शैली कितनी बदल गयी है, यह इस पुस्तक में स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। जिस तेजी से हमारे साहित्य की कला और व्यंजनाएं बदल रही हैं, उसी तेजी से समालोचना की तर्जें अदा बदल रही है, पुरानी रुचि का जो साहित्यिक समाज वर्तमान साहित्य के स्पर्श में नहीं है, वह नयी समालोचना शैली को देख कर एक बदले हुए संसार का अनुभव करेगा। लेकिन नई पीढ़ी, नए संसार और नए साहित्य को बड़े मनोयोग से ग्रहण कर लेती है। फलतः यह पुस्तक भी नई पीढ़ी के पाठकों को उनकी अपनी चीज है।

अंग्रेजी शैली की समालोचना के अनुरागी पाठकों के लिए पुस्तक सुरुचि पूर्ण और संग्राह्य है। कवि पंत को जानने के लिए भी हमें प्रथम पुस्तक समझना चाहिए।" मूल्य एक रुपया।

गुप्तजी की कला

लेखक—प्रो० सत्येन्द्र एम० ए०

श्री सत्येन्द्रजी हिन्दी-साहित्य के गम्भीर और मननशील आलोचक हैं। आपकी इस पुस्तक के विषय में मासिक "विश्वमित्र" की राय है :—

"प्रस्तुत पुस्तक में विद्वान लेखक ने गुप्तजी की कला, दृष्टिकोण, शैली, विषय, कथा-वस्तु तथा अभिरुचि पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया है। शुरू से आखीर तक लेखक का यह प्रयत्न रहा है कि कम ही दायरे में कवि की सारी विशेषताओं का प्रदर्शन हो सके। हमें यह कहते प्रसन्नता होती है कि वे इस प्रयत्न में काफी सफल हुए हैं। लेखक ने ऐसी सुन्दर पुस्तक लिख कर हिन्दी साहित्य का वास्तविक कल्याण किया है।" मू० ।।।)

प्रसादजी की कला

सम्पादक—श्री गुलाबराय और श्री महेन्द्र

प्रसाद-साहित्य पर एक उत्तम आलोचनात्मक ग्रन्थ

एक सम्मति देखि [illegible]

"प्रस्तुत पुस्तक में प्रसाद [illegible] की प्रतिभा पर भली भाँति प्रकाश डाला गया [illegible] में प्रसादजी की जीवन-कथा है, इसके बाद प्रसादजी की कविताओं की आलोचना और उनके नाटकों का आलोचनात्मक विश्लेषण। इसके अलावा पुस्तक में प्रसादजी के गीत, उनके उपन्यास, उनके महाकाव्य कामायनी आदि पर सुन्दर निबन्ध हैं। पुस्तक प्रसादजी की कला से प्रेम रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी है।" मू० ।।।)—साप्ताहिक 'विश्वमित्र'।